# कल्याण

वर्ष ३२

अङ्क ४

राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

# विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख २०१५, अप्रैल १९५८



## चित्र-सूची

### तिरंगा




वार्षिक मूल्य
भारतमें ७॥)
विदेशमें १०)
(१५ शिलिंग)


जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥


साधारण प्रति
भारतमें ≈)
विदेशमें ॥-)
( १० पैंस )

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
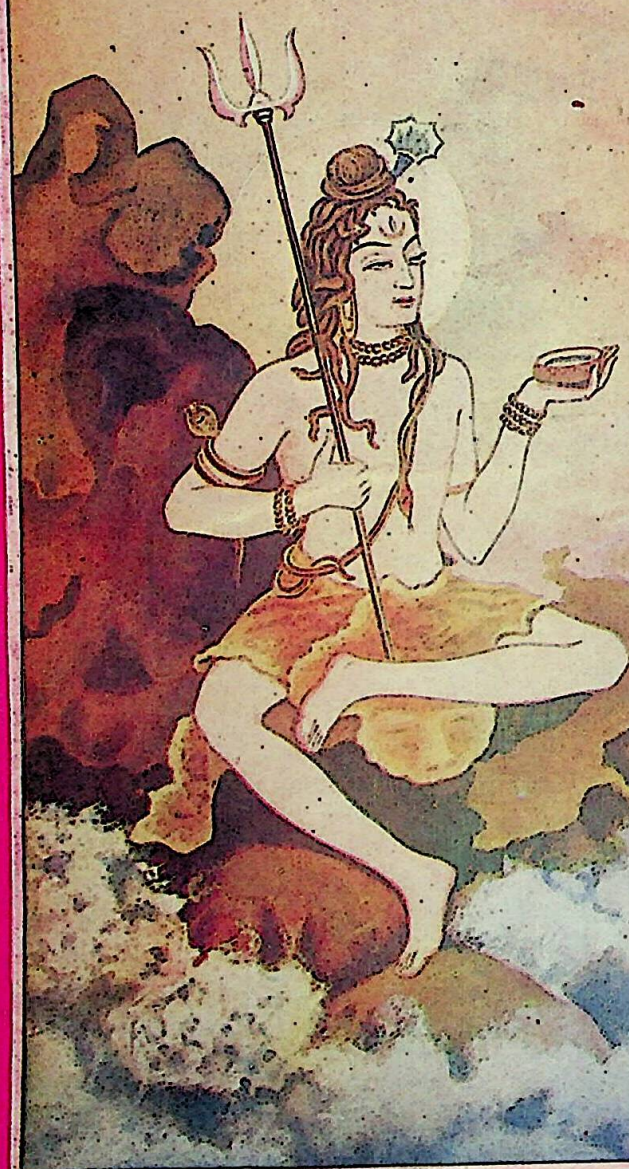
हालाहल-पान

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

# कल्याण

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं वन्दे संततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ३२ } गोरखपुर, सौर वैशाख २०१५, अप्रैल १९५८ { संख्या ४ पूर्ण संख्या ३७७

## शिवजीसे विनय

को जाँचिये संभु तजि आन ।
दीन दयालु भगत आरति हर, सब प्रकार समरथ भगवान ॥ १ ॥
कालकूट जुर जरत सुरासुर, निज पन लागि किए बिष-पान ।
दारुन दनुज जगत दुख दायक, मारेउ त्रिपुर एक हीं बान ॥ २ ॥
जो गति अगम महामुनि दुर्लभ, कहत संत श्रुति सकल पुरान ।
सो गति मरन-काल अपने पुर देत सदासिव सबहि समान ॥ ३ ॥
सेवत सुलभ उदार कलपतरु, पारवती पति परम सुजान ।
देहु काम रिपु राम चरन रति, तुलसिदास कहँ कृपानिधान ॥ ४ ॥

याद रक्खो—सच्ची शान्ति, सच्चे सुख और सच्ची सफलताका पूर्ण रहस्य ईश्वर-विश्वास या आत्मविश्वास है। जब तुम्हें यह विश्वास हो जायगा कि सुख, शान्ति और सफलता बाहरी परिस्थितियोंपर निर्भर नहीं करतीं, वे तुम्हारे आभ्यन्तरिक विश्वासपर ही निर्भर हैं, तब तुममें उस विलक्षण शक्तिका उदय हो जायगा, जो बाहरी परिस्थितियोंको बदल देगी और सुख, शान्ति तथा सफलता सहज ही तुम्हें प्राप्त हो जायगी।

याद रक्खो—जब तुम्हें भगवत्कृपापर विश्वास होगा और भगवान्के अनुकूल चलने लगोगे, तब समस्त ईश्वरीय शक्तियाँ तुम्हारी सहायता करने लगेंगी तथा सफलता तुम्हारे सामने घुटने टेककर अपनेको स्वीकार करनेके लिये प्रार्थना करने लगेगी।

याद रक्खो—जब तुम्हारा ईश्वरपर विश्वास हो जायगा, तब तुम्हें यह अनुभव होगा कि तुम्हारे सारे योगक्षेमका भार ईश्वर वहन कर रहे हैं, वे प्रत्येक पतनसे तुम्हारी रक्षा करते हैं, तब तुम्हारे अंदर सहज ही निर्भयता और निश्चिन्तता आ जायगी।

याद रक्खो—ऐसा कोई दोष नहीं है, जिसे तुम दूर न कर सको; ऐसी कोई कठिनाई नहीं है, जिसे तुम पार न कर सको; ऐसी कोई स्थिति नहीं है जिसपर तुम विजय प्राप्त न कर सको। बस ईश्वरपर, ईश्वरकृपा-पर और ईश्वरीय शक्तिपर तुम्हारा विश्वास होना चाहिये।

याद रक्खो—ऐसी कोई उत्तम स्थिति नहीं है। जो तुम्हें न प्राप्त हो सके; ऐसी कोई उत्तम स्थिति नहीं है, जो सत्य न हो और ऐसा कोई उच्च स्तर नहीं है, जिसपर तुम न पहुँच सको। भविष्यकी सारी विजय तुम्हारे हाथमें है; बस, तुम्हें सर्वशक्तिमान् नित्य परम-सुहृद् भगवान्की अमोघ कृपापर विश्वास होना चाहिये, भगवान्के शरण हो जाना चाहिये और उनके बलसे अपनेको परम बलवान् मान लेना चाहिये।

याद रक्खो—संसारमें सर्वोत्तम, सबसे अधिक संतोषजनक और निश्चित सफलता-पूर्ण सिद्धान्त यह है कि तुम अनन्त-शक्ति भगवान्की कृपापर विश्वास करो और उस कृपाके बलसे अपनी आत्मशक्तिको जाग्रत् करो। फिर बाहरी प्रतिकूल परिस्थितियाँ तुम्हारा कुछ बिगाड़ तो कर ही नहीं सकेंगी, प्रत्युत उनका रूप बदल जायगा और वे तुम्हारे अनुकूल होकर तुम्हारी सफलतामें सहायक हो जायँगी।

याद रक्खो—अपनेको हीन समझना और परिस्थितियों-के सामने झुक जाना आत्महननके समान है। तुम्हारे अंदर ईश्वरीय शक्ति है, उस शक्तिके द्वारा तुम सब कुछ करनेमें समर्थ हो। परिस्थितियोंको बदलना भगवत्-कृपाके बलपर तुम्हारे हाथमें है। तुम हीन नहीं हो, तुम सर्वलोकपूज्य भगवान्के सनातन अंश हो। तुम दीन नहीं हो, तुम सर्वलोकमहेश्वर भगवान्की संतान हो। तुम निर्बल नहीं हो, सर्वशक्तिमान् महान् भगवान्-का अनन्त बल तुम्हारी सहायताके लिये सदा प्रस्तुत है। तुम विश्वास करो और हीनताके मिथ्या संस्कारोंको मिटाकर महान् बन जाओ।

याद रक्खो—सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वज्ञ भगवान् तुम्हारे सुहृद् हैं। वे अपनी पूर्ण महानतासे नित्य तुम्हें महान् बनानेको तैयार हैं। तुम उनकी कृपापर विश्वास करो; उनकी शक्ति, सर्वज्ञता तथा सौहार्दपर विश्वास करो और पापों, विरोधी परिस्थितियों तथा कष्टोंपर विजय प्राप्तकर सच्ची सुख-शान्ति और सफलताको प्राप्त करो।

'शिव'

# दुःखकी निवृत्तिका उपाय

( लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज )

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

आकाशको चमड़ीके समान शरीरमें लपेटनेमें यदि मनुष्य समर्थ होगा, तभी वह देवके दर्शनके बिना, ईश्वरका साक्षात्कार किये बिना दुःखसे पार हो सकेगा । विधिमुखसे इसी बातको इस प्रकार कह सकते हैं कि जैसे आकाशको चमड़ीके समान शरीरमें लपेटना असम्भव है, उसी प्रकार ईश्वरका दर्शन किये बिना दुःखसे पार पाना मनुष्यके लिये अशक्य है।

यह श्लोक श्वेताश्वतर-उपनिषद्का है। इसके बादके तीन श्लोकोंमें यह कहा गया है कि श्रीश्वेताश्वतर ऋषिने बहुत दारुण तप किया था और उसके बाद उनको इस उपनिषद्का ज्ञान प्राप्त हुआ। अतएव किसी भी अनधिकारी पुरुषको इस उपनिषद्का ज्ञान नहीं देना चाहिये।

परंतु आजके मुद्रणयन्त्रके वैज्ञानिक युगमें पैसेके अधिकारमें दूसरे सारे अधिकार समा जाते हैं। जैसे—एक निबन्धलेखकने लिखा, कुछ मासिक-पत्रोंमें वह प्रकाशित हुआ और उनके सारे ग्राहकोंको यह अमूल्य ज्ञान बिना मूल्य तथा बिना परिश्रमके मिल गया। ऐसी स्थितिमें मनुष्य अवश्य यह संतोष कर लेता है कि मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया। परंतु बाँच लेनामात्र कोई ज्ञान नहीं है। जबतक मनुष्य साधनसम्पन्न नहीं होता, तबतक ज्ञानकी बातका मर्म या रहस्य उसकी समझमें आता ही नहीं और इस कारण वह हृदयमें नहीं उतरता। ज्ञानको पचानेके लिये साधन-सम्पत्तिकी अत्यन्त आवश्यकता है। अन्यथा वह ज्ञान केवल सुग्गेकी रट रह जाता है और केवल प्रदर्शन करनेमें ही उसका उपयोग होता है।

ज्ञानके लिये अधिकारके विषयमें एक संतने बहुत सुन्दर बात लिखी है, उसे देखिये—भक्तिके बिना ज्ञान सम्भव नहीं है, शरणागतिके बिना भक्ति नहीं होती। सद्गुरुके बिना शरणागतिका भाव नहीं आता और मुमुक्षताके बिना सद्गुरुकी शरण नहीं मिलती। मैं कौन हूँ ? ईश्वर कौन है ? जगत् क्या है ? ज्ञान क्या है ?—यह जानकर स्वरूप-ज्ञान-प्राप्तिकी तीव्र इच्छाके बिना सच्ची मुमुक्षुता नहीं आती। वैराग्यके बिना तीव्र इच्छा नहीं होती। विषयका तिरस्कार हुए बिना वैराग्य नहीं टिकता। त्रिविध तापके संतापसे व्याकुल हुए बिना विषय-भोगके प्रति तिरस्कार नहीं होता। इन सब स्थितियोंमेंसे अपनी मनोदशाका विचार करके ही 'हे भगवन्! मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो'—यों कहनेका अधिकार मिलता है। भगवान्का ज्ञान नहीं है, अपना भी भान नहीं है और 'मैं भगवान्का भक्त हूँ, भगवान् मुझपर कृपा करके मुझको अवश्य दर्शन देंगे, मैं मुक्ति पाऊँगा'—ऐसा अनुमान करना व्यर्थ है। भगवान् कहेंगे कि तुझको अपनी फुरसतके समय भजन करनेकी आदत है तो मुझको भी अपनी फुरसतके समय ही सुननेकी आदत है।

इस बातको शास्त्र इस प्रकार समझाते हैं—

विषयासक्तिनाशेन विना न श्रवणं भवेत्।
ताभ्यां विना न मननं न ध्यानं तैर्विना क्वचित्॥

विषयासक्ति, भोग-लालसाका नाश किये बिना गुरु-उपदेशका यथार्थ श्रवण भी नहीं हो सकता। जबतक चित्त विषयोंमें ही भटकता रहता है, तबतक एकाग्रतापूर्वक श्रवण ही नहीं बन सकता। इसी प्रकार बाँचनेकी बात भी समझ लेनी चाहिये। जबतक श्रवण और पठन ठीक-ठीक नहीं होता, तबतक उसका मनन किस प्रकार हो सकता है ? और जिसका मनन न हो, वह विषय भला, अन्तःकरणमें स्थिर कैसे रह सकता है ?

और जो विषय अन्तरमें स्थिर न हो, वह जीवनमें कैसे उतर सकता है ?

फिर ज्ञानको स्थिर रहनेके लिये जगह चाहिये। ज्ञानके स्थिर होनेका स्थल है अन्तःकरण। उसमें यदि विषय-वासनाओंके जाले भरे हों तो वहाँ ज्ञान किस प्रकार रह सकेगा ? व्यवहारमें भी यही बात दीख पड़ती है। एक लोटेमें पानी भरा है; यदि उसमें दूध लेना हो तो पानी उँडेले विना, यानी लोटेको खाली किये विना उसमें दूध नहीं ले सकते। यही बात ज्ञानकी है। ज्ञानके लिये भी अन्तःकरणको खाली करना आवश्यक है। इस प्रकार ज्ञानके लिये अधिकारकी विशेष आवश्यकता है, उसके विना ज्ञान नहीं होता।

दुःखकी निवृत्तिके लिये जो देवके साक्षात्कारकी बात ऊपर कही गयी है, उसका स्वरूप समझाते हुए भगवान् श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

**को देवो यो मनः साक्षी मनो मे ज्ञायते मया।**
**तर्हि देवस्त्वमेवासि एको देव इति श्रुतेः॥**

*शिष्य*—देव कौन है ? देवका स्वरूप क्या है ?

*गुरु*—जो मनके व्यवहारको जानता है, वही देव है।

*शिष्य*—अपने मनके व्यवहारको तो मैं ही जान सकता हूँ, दूसरा कोई भी नहीं जान सकता।

*गुरु*—ऐसी अवस्थामें तुम स्वयं देव हो। तुम्हारा अन्तरात्मा ही वह देव है, जिसके दर्शनसे दुःखकी निवृत्ति होती है। इसका कारण श्रुति यह बतलाती है कि वह चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपमें प्रकट हो, परंतु देव एक ही है और अद्वितीय भी है।

उपर्युक्त संवादमें श्रीशंकराचार्यने श्रुतिका प्रमाण दिया है। वह श्रुति इस प्रकार है—

**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः**
**सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।**
**कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः**
**साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥**

भले ही वह विभिन्न स्वरूपोंमें तथा स्थलोंमें प्रकट होता हो, तथापि जहाँ है वहाँ देव एक ही है। वह प्राणीमात्रके हृदयमें छिपा हुआ है। वह सर्वव्यापक है, यानी वह कहाँ नहीं है, यह कहना ही नहीं बनता। वह अप्रकट रहता है, फिर भी प्राणीमात्रमें अन्तरात्माके रूपमें स्थित है। उसके सांनिध्यमात्रसे प्राणी अपना-अपना व्यवहार करनेमें समर्थ होते हैं। वरं वही सचराचर जगत्को धारण कर रहा है। वही देव मन और बुद्धिके साक्षीरूपमें सर्वत्र प्रकट भी दीखता है; क्योंकि वह चिन्मात्र है, चैतन्यस्वरूप है। एक तथा अद्वितीय है तथा निर्गुण और गुणातीत भी है।

उपर्युक्त मन्त्र भी श्वेताश्वतर उपनिषद्का है और उसमें ऋषि कहते हैं कि अन्तरात्मा ही देव है और आत्मसाक्षात्कारसे दुःखकी निवृत्ति होती है। इसी उपनिषद्में देवका सविशेष वर्णन इस रूपमें आता है—

**न तस्य कार्यं करणं च विद्यते**
**न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।**
**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते**
**स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥**

उस देवका कोई शरीर नहीं और शरीर न होनेके कारण इन्द्रियाँ भी नहीं हैं, वह अद्वितीय है, यानी उसके-जैसा दूसरा कोई नहीं है; उससे अधिक तो फिर कोई हो ही कैसे सकता है। श्रुति कहती है कि उसकी शक्तियाँ विविध और असाधारण हैं। परंतु उसमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति स्वाभाविक रीतिसे ही काम करती रहती हैं। इन दोनों शक्तियोंकी स्वाभाविक क्रियाशीलताके कारण ही अनन्त ब्रह्माण्डोंका आविर्भाव और तिरोभाव हुआ ही करता है।

अब यदि दुःखकी निवृत्ति करनी है तो पहले उसका स्वरूप देखिये। साधारण अवलोकन करनेसे भी ज्ञात

हो जायगा कि बारंबार जन्मना और बारंबार मरना तथा उतनी ही बार गर्भवासकी यातनाएँ भोगना—इसके समान दूसरा कोई भी दुःख इस जगत्में नहीं है। आधि, व्याधि और उपाधि-जैसे दूसरे दुःख तो क्षणिक होते हैं और उनका परिपाक होनेपर वे निवृत्त भी हो जाते हैं तथा ये दुःख भी तो उन्हींको होते हैं, जिन्होंने जन्म लिया है। इसलिये इनका समावेश जन्मके दुःखके अन्तर्गत ही हो जाता है।

सुभाषित कहता है—

जन्म दुःखं जरा दुःखं जाया दुःखं पुनः पुनः।
अन्तकाले महादुःखं तस्माज्जागृहि जागृहि॥

पहले गर्भवासका दुःख भोगना पड़ता है और फिर पाक-काल आनेपर जन्मका दुःख भोगना पड़ता है। यह दुःख कोई ऐसा-वैसा नहीं। जिस प्रकार कोल्हूमें पेरे जानेके बाद ईखका रस बाहर आता है, वैसे ही उस समयका यह दुःख है। उसके बाद वृद्धावस्थाके अनेकों दुःख भोगने पड़ते हैं। पुनः प्रत्येक जन्ममें स्त्री-पुत्र आदिके वियोगका दुःख भी भोगना ही पड़ता है और मृत्यु-का दुःख भी महाभयंकर होता है। इसीलिये सुभाषितकार कहते हैं—जागृहि जागृहि 'मोहनिद्रामें न पड़े रहो, ईश्वरका ज्ञान सम्पादन करो और जन्म-मृत्युरूपी समुद्र-को पार कर जाओ।'

अब देवका ज्ञान अर्थात् ईश्वर-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कारका स्वरूप देखकर निबन्ध समाप्त करेंगे। इसी उपनिषद्में इसका स्वरूप इस प्रकार समझाया गया है—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥

यह ब्रह्मचक्र इतना विशाल है कि इसमें सारे जीव अपनी आजीविका प्राप्त कर सकते हैं और उसमें अवस्थित भी रहते हैं। इस ब्रह्मचक्रमें जीवात्मा (हंस) अनादिकालसे भ्रमण कर रहा है। क्यों उसे भ्रमण करना पड़ता है, इसका कारण समझाते हुए कहते हैं कि वह अपनेको परमात्मासे भिन्न मानता है, इसी कारण उसे ब्रह्मचक्रमें भटकना पड़ता है। 'यह भटकना कैसे बंद हो?' इसका उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि यदि जीवात्मा अपनेको परमात्मासे अभिन्न अनुभव करे तो उसी क्षण उसका भटकना बंद हो जाय और वह अपने मूल अजर, अमर और अविनाशी स्वरूपको प्राप्त हो जाय। कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि जबतक आत्मा अपने-को परमात्मासे पृथक् मानता है, तबतक वह जीव या जीवात्मा कहलाता है। जहाँ जीवभाव आया, वहाँ कर्ता-भोक्ताका अभिमान आता है और उससे जन्म-मरणकी परम्परामें भटकना अनिवार्य हो जाता है।

आत्मामें जीवभाव कैसे आता है, इसके विषयमें योगवासिष्ठमें लिखा है कि 'सृष्टिके आरम्भकालमें ब्रह्म ही सृष्टिरूप हो जाता है। ब्रह्मादिक, जो ब्रह्मरूप ही हैं; वे सृष्टिके आदिकालमें प्रकट हो जाते हैं; तथा दूसरे जीव भी, जो ब्रह्मरूप ही हैं, सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें प्रकट हो जाते हैं। जो अज्ञानके आवरणके कारण अपने ब्रह्मभावको भूलकर अपनेको ब्रह्मसे पृथक् मानते हैं, वे रजोगुण और तमोगुणके द्वारा मिश्रित सत्त्वगुणके परिणाममें होनेवाले जीवभावको स्वीकार करके इस जगत्की वासनाके संस्कार-से युक्त होकर पहले मर जाते हैं। फिर प्रारब्धका भोग भोगनेके लिये उनका जन्म होता है; क्योंकि स्वयं ब्रह्मरूप होनेपर भी, इस बातको भूलकर वे जड देहादिमें आत्मबुद्धि करके जन्म-मरणके चक्रमें फिरा करते हैं। समयपर जब वे स्वयं ही अपने मूलस्वरूपको पहचान लेते हैं—मैं ही ब्रह्मरूप या परमात्मरूप हूँ, यह निश्चय कर लेते हैं, तब उनका जन्म-मरण बंद हो जाता है। इस स्थिति-को मोक्ष या मुक्ति कहते हैं।' (जिस अज्ञानके

आवरणके कारण जीव अपने ब्रह्मभावको भूलकर अपनेको ब्रह्मसे पृथक् मानता है, उस अज्ञानको शास्त्र 'अविद्या' कहते हैं और वह मूलमें ही रहती है, अतएव उसे मूलाविद्या कहते हैं।)—यो० वा० नि० उ० सर्ग १४२।

अविद्याके कारण आये हुए इस जीवभावकी निवृत्तिके लिये इस नीचे लिखे श्लोकको खूब समझकर इसपर मनन करना चाहिये। ऐसा करते-करते जीव और शिवका अभेद समझमें आ जायगा और ब्रह्मचक्रमें भटकना बंद हो जायगा।

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत्॥

इस शरीरको तो देवताका मन्दिर समझो। इसमें जो चैतन्य है जिसे जीव कहते हैं, वह स्वभावतः शिवस्वरूप ही है। अपने अज्ञानसे तुम व्यर्थ ही जीवरूप बन गये हो। अतएव इस अज्ञानरूपी निर्माल्यको शिवके ऊपरसे हटाकर मैं शिवस्वरूप आत्मा हूँ, ऐसा चिन्तन दृढतापूर्वक किया करो, इससे तद्रूप हो जाओगे।

इस बातका प्रमाण शास्त्रमें इस प्रकार मिलता है—

क्रियान्तरासक्तिमपास्य कीटको
ध्यायन्नलित्वं ह्यलिभावमृच्छति।
तथैव योगी परमार्थतत्त्वं
ध्यात्वा समायाति तदेकरूपताम्॥

क्रियामात्रसे आसक्ति हटाकर कीड़ा भ्रमरका ध्यान करते-करते भ्रमररूप हो जाता है। इसी प्रकार योगी, जो समस्त व्यवहारोंसे आसक्ति हटाकर केवल आत्माका ही ध्यान करता है, यदि तद्रूप हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

इसीलिये श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

अहर्निशं किं परिचिन्तनीयं
संसारमिथ्यात्वशिवात्मतत्त्वम्॥

प्रश्नोत्तरीमें प्रश्नरूपमें वे पूछते हैं कि रात-दिन किसका चिन्तन करना चाहिये? इसीका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि यह जन्म-मरणरूपी संसार मिथ्या है और मैं तो शिवस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसा चिन्तन निरन्तर करते रहना चाहिये।*

## बाम गति चलैं काम करत हराम के।

राम गुन गान कौं प्रदान रसना जो भई,
तासौं गीत गाए काम के, ललाम बाम के।
सतत सरूप नासमान ही निहारे, जग
दरस किए न दृग स्याम अभिराम के।
हरि जस भाजन न श्रवन बनाए कबौं,
लहैं सुख सुनि निज जस निसि जाम के।
धरा धाम पै ह्वै दाम सेवक सुदाम नित
बाम गति चलैं काम करत हराम के।

—थानसिंह शर्मा सुभाषी

* शरीरका स्वास्थ्य तो ठीक है। ईश्वर-कृपासे उसमें कोई व्याधि या व्यथा भी नहीं है। तथापि वृद्धावस्थाके कारण अशक्ति बढ़ती जा रही है। इसलिये पत्र-व्यवहार चालू रखनेकी सामर्थ्य उसमें नहीं है। अतएव कोई सज्जन पत्र लिखनेका कष्ट न करें, यह प्रार्थना है— चिदानन्द।

# गुण-विकासके लिये भक्ति अनुपेक्षणीय

( संत श्रीविनोबा )

हमने देखा कि प्रकृति-शोधनकी प्रक्रियामें तीनों गुण सामने खड़े होते हैं और उनका शोधन करना पड़ता है । तमोगुणके निरसनके लिये शरीर-परिश्रम तथा अप्रमाद-वृत्ति ये दोनों साधन दीखते हैं । रजोगुणपर विजय पानेके लिये स्वधर्माचरण—सेवा-कार्यमें अच्छी तरह देह, मन और बुद्धिको सब साधनोंके साथ लगा देना चाहिये, जो सहज प्राप्त हैं और स्वाभाविक हैं ।

## आत्मस्वरूप ज्ञान बुद्धिसे भिन्न

आज मेरा सत्त्वगुणसे मुकाबला है। सत्त्वगुण हमें ज्ञानकी तरफ ले जाता है । इसलिये वह तारक गुण है । पर आत्माका स्वभावरूप जो ज्ञान है, वह एक चीज है और बुद्धि जो ज्ञानकी क्रिया है, वह दूसरी चीज है—जिसमें विद्वत्ता, पाण्डित्य, विश्लेषणात्मक ज्ञान-विज्ञान, सृष्टिके ज्ञान आदिका समावेश होता है । ये सारे ज्ञान मनुष्यके लिये लाभदायी भी होते हैं । फिर भी मनुष्यको इन ज्ञान-क्रियाओंका भान होता है । अगर सतत ज्ञानक्रिया करनेकी नौबत आये तो उससे बुद्धिको थकान आती है । इसलिये यह ज्ञान आत्मस्वरूप नहीं है ।

## सत्त्वका सत्त्वसे शमन

जो ज्ञान आत्मस्वरूप है, वह इससे भिन्न है । वह जीवनके लिये जरूरी है । वह सत्त्वगुणद्वारा प्राप्त होता है । अब आत्मस्वरूपसे भिन्न बुद्धिकी क्रियाके रूपमें जो ज्ञान मिलता है, उसके बोझसे कैसे छुटकारा मिले—यही सवाल हमारे सामने है । उसका नियमन कैसे किया जाय ? इसके लिये सूत्र यह है—'सत्त्वस्य सत्त्वेन' यानी 'सत्त्वस्य शमनं सत्त्वेन' । यहाँ शमनं अध्याहृत है । अर्थात् सत्त्वगुणद्वारा ही सत्त्वगुणका शमन होता है, जिसका मतलब यही होता है कि हम सत्त्वगुणको बढ़ाते ही चले जायँ । नदीके प्रवाहका वेग कैसे शमन होता है ? बीचमें बाँध डालकर रोकनेसे नहीं । उससे तो वह दूसरी दिशामें बह जायगी । उसे तो समुद्रतक जाने ही देना चाहिये । उत्कर्ष या प्राप्तव्य-स्थानपर पहुँचनेसे ही वह शान्त होता है । इसी तरह जब सत्त्वगुण अपने उत्कर्षतक पहुँच जाता और अपना प्राप्तव्य-स्थान प्राप्त कर लेता है, तभी उसका वेग शान्त होता और वह भी शान्त हो जाता है । जब बच्चा पहले बोलने लगता है, तब उसे और उसके मा-बापको उसके बोलनेका अभिमान होता है । पर बादमें जब बोलना उसके लिये स्वाभाविक हो जाता है, तब उसके बोलनेकी तरफ किसीका ध्यान भी नहीं रहता । वैसे ही जब बच्चा चलने लगता है, तब सबको अच्छा लगता है; पर जब चलना उसके लिये स्वाभाविक हो जाता है, तब भी क्या वैसा आदर माल्रम होता है ? इसी तरह जब सत्त्वगुण मनुष्यके लिये स्वाभाविक हो जाता है, तब उसे उसका भान भी नहीं होता और उसका वेग भी शान्त हो जाता है । सूर्यको न तो अपने प्रकाशका और न अपने दातृत्वका ही भान होता है; क्योंकि प्रकाश देते रहना उसका स्वभाव है । नदीको अपने बहते रहनेके बारेमें कोई अभिमान नहीं होता; कारण, वह उसका स्वभाव ही है । वह उसके लिये कोई अभिमान-का विषय नहीं, अपने स्वभाववस्तुके लिये किसीको अभिमान नहीं हो सकता; जो बाहरसे प्राप्त गुण-स्वभाव होता है, उसके लिये अभिमान होता है ।

## स्वभावमें परिणत गुण अभिमान नहीं करता

सत्यनिष्ठ पुरुष हमेशा सत्य कहता है । उसका सत्य स्वभाव ही बन जाता है । उसे एक क्षणके लिये यह भास नहीं होता कि वह सत्य कहता है । हमने घड़ीको घड़ी कहा, तो कौन-सी बड़ी सत्य बात हुई ? उसके लिये क्यों अभिमान करें ? क्या मैं घड़ीको कलम कहता ? इसलिये सत्य बोलना तो उसके लिये स्वाभाविक बात है । उस हालतमें सत्यनिष्ठा क्या माल्रम होगी ?

परंतु सत्य बोलनेमें किसीको अगर कुछ अभिमान होता है तो यह समझना चाहिये कि उसे सत्यनिष्ठा सधी नहीं है। उसने थोड़ा-सा सत्य बोलना आरम्भ किया है, लेकिन अभी भी उसमें काफी मात्रामें असत्य पड़ा है। इसलिये उसे सत्यका आभास होता है और इसीलिये वह जितना भी सत्य बोलता है, उसके लिये उसे अभिमान होता है।

यह मिसाल मैंने इसलिये दी कि इससे आपके ध्यानमें आ जायगा कि जबतक कोई गुण गुणके रूपमें रहता है और जबतक वह स्वभावमें परिणत नहीं हो जाता, तबतक उसके लिये मनुष्यको अभिमान हो सकता है। तबतक वह गुण उसके विकासमें, सम्पूर्ण सृष्टिके साथ एकरूप होनेमें बाधक हो सकता है। परंतु जब गुण स्वभावमें परिणत हो जाता है, तब सारी सृष्टिके साथ, दुनियाके साथ एकरूप होनेमें वह बाधक नहीं होता। फिर उस मनुष्यको समाजसे, दुनियासे अलग रहनेकी इच्छा भी नहीं होती। मनुष्यको यह लगता है कि समाजमें रहूँगा, दुनियाके साथ सम्बन्ध रखूँगा तो शायद मेरा वैराग्य ढीला पड़ जायगा, शायद मुझमें क्रोधका उदय होगा, मेरी सत्यनिष्ठा ढीली पड़ जायगी। किंतु इस तरह मनमें यह शायद होनेका मतलब है साधनामें कुछ कच्चापन, इसके कारण यह भय उत्पन्न हो रहा है। परंतु जब वह प्रेम, कारुण्य, सत्यनिष्ठा अपना स्वभाव ही हो जाता है, तब सारी दुनियासे—समाजसे एकरूप होनेमें किसी प्रकारकी तकलीफ नहीं और न किसी प्रकारकी बाधा ही होती है। इसलिये सत्त्वगुणके लिये यही उपाय है कि उसे बढ़ाते चले जाओ।

### ब्रह्माण्ड-शक्तिके अनुग्रहसे सत्त्ववृद्धि

इसमें सवाल आता है कि सत्त्वगुण बढ़ानेमें आगे कुछ तकलीफ पेश आती है। उसके लिये कुछ मददकी जरूरत होती है। तो फिर क्या किया जाय? इसका उत्तर आगेके सूत्रमें है। 'भक्त्यैव तु विस्तारः'—भक्तिसे ही विस्तार है। उससे मदद मिलती है; क्योंकि अपने प्रयत्नकी भी एक हद है। उसके बाद कहींसे मदद मिलनी चाहिये, और वह मिलती ही है। वह सृष्टिसे मिलती है। मान लीजिये किसी मनुष्यके फेफड़े ठीक काम नहीं कर रहे हों, तो उसके लिये क्या उपाय करते हैं? मान लीजिये कि कोई क्षयरोगी है, उसे स्वच्छ हवा मिलनी चाहिये, तो हम उसे किसी ऊँची जगहपर ले जाते हैं; क्योंकि वहाँ उसको स्वच्छ हवा मिलेगी। जिसके फेफड़े अच्छे होंगे, वह तो वहीं कमरेसे भी अच्छी हवा खींच सकेगा; परंतु उस बीमारके लिये खुली हवा ही चाहिये; क्योंकि हवा खींचनेकी उसकी शक्ति क्षीण हो गयी है। इस तरह उसके फेफड़ोंको बाहरकी मदद दी जाती है, जो साधारण मनुष्यके लिये अनावश्यक है। हमारे इस शरीरमें किसी भी शक्तिकी कमी हो तो उसकी पूर्ति सृष्टिकी तरफसे होती है। यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है? अगर किसीकी आँखें क्षीण हो रही हों, तो सूर्यकिरणोंकी मददसे वे दुरुस्त हो सकती हैं। इस तरह आँखोंका उपचार करते हुए मैंने एक भाईको देखा है, जो सूर्य-साधना कर रहे थे। सूर्यकी किरणें पर्वतोंपर पड़ती हैं, घासपर पड़ती हैं; और वहाँसे जिन्हें परावृत्त किरणें कहते हैं, वे हमारी आँखोंमें आती हैं, तो उससे आँखें सुधर जाती हैं। इस तरह आँखोंकी जो शक्ति कम हुई थी, वह हमने बाहरसे हासिल की। यह बिम्ब-प्रतिबिम्ब-न्यायके अनुसार होता है। हमारे शरीरमें जो तत्त्व या शक्ति है, वह सारे-के-सारे ब्रह्माण्डमें भी है। अगर शरीरमें उनकी कमी होती है, तो बाहरसे पूर्ति भी हो सकती है। हमारे शरीरमें खून है, तो सृष्टिमें पानी है। हमें आँखें हैं तो बाहर उसका तत्त्व सूर्यमें है। हमारे अंदर प्राण है, तो बाहर वायु है। हमारे खूनमें लोहा होता है, तो बाहर सृष्टिमें भी वह रहता है। खूनमें लोहेका अंश कम होनेपर डाक्टर लोहा खानेके लिये कहते हैं यानी जिस चीजमें लोहेका अंश हो, ऐसी तरकारी या गुड़ खानेके लिये कहते हैं। इस प्रकार बाहरसे मदद मिलनेकी प्रक्रियाको हम तत्त्वज्ञानकी भाषामें 'अनुग्रह' कहते हैं, हमारी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये हमपर

ब्रह्माण्ड-शक्तिका अनुग्रह होता है, ऐसी कोई शक्ति बाहर अवश्य है, जिसकी मदद आध्यात्मिकताके क्षेत्रमें जरूरत पड़नेपर हमें मिल सकती है।

### अपनेको पहचानना आवश्यक

इसके लिये अपनेको अपने देहसे अलग करके पहचाननेकी जरूरत होती है। हमारे देहमें हम कौन हैं? इस शरीरमें कोई अलग चेतन वस्तु है, मैं स्पष्टतः अपने शरीरसे भिन्न हूँ। मेरा शरीर ही बीमार होता है, फिर वह दुरुस्त भी होता है। अगर मेरा एक हाथ या दूसरा कोई अवयव कट जाय तो मेरे 'मेरेपन' में कोई कमी नहीं होती। मेरा हाथ या आँख मैं नहीं, इसलिये मेरा वोटका अधिकार छीन नहीं लिया जाता। बुद्धिकी भी ऐसी ही बात है। मेरी स्मरण-शक्ति आजकल काम नहीं करती; ज्यादा चिन्तन करता हूँ तो थकान आती है; इसलिये मैं किसी डाक्टरसे जाकर शिकायत करता हूँ तो मेरी स्मरण-शक्ति या बुद्धिकी इस न्यूनताको जो पहचानता है, वह कौन है? स्पष्ट ही है कि वह कोई मेरी बुद्धिसे अलग वस्तु है। मेरा चरखा बिगड़ जाता है तो उसे दुरुस्त करनेके लिये मैं बढ़ईके पास ले जाता हूँ। लेकिन उस चरखेसे वह बढ़ई और मैं भिन्न हैं, वैसे ही वह डाक्टर और मैं दोनों ही मेरी बुद्धिसे भिन्न हैं। मेरी बुद्धिसे जितना वह डाक्टर अलग है, उतना ही अलग मैं हूँ। हम दोनों मिलकर उस बुद्धिको सुधारनेकी तरकीब निकालना चाहते हैं। मनुष्यकी बुद्धि क्षीण होती है। पर मनुष्य क्षीण नहीं होता, वह अक्षीण ही बना रहता है। इसीलिये वह बुद्धिको सुधारनेके निमित्त बाहरसे मदद माँग सकता है। इस प्रकार इस देह और बुद्धिसे भिन्न मैं हूँ।

इसी प्रकारसे सारी दुनियामें भी इस भौतिक सृष्टिसे भिन्न एक परमात्मा परमशक्ति है। उसका नाम कुछ भी दीजिये। उस शक्तिका अनुग्रह हमें मिल सकता है। सत्त्वगुणके उद्भवमें उसकी मदद मिल सकती है। सत्त्वगुणका उत्कर्ष करते हुए बीचमें उसका अभिमान न हो, अहंकार आरूढ न हो, इसलिये भी उसकी मदद माँगी जा सकती है। सत्त्वगुण तो तारक गुण है; परंतु अगर उसके अपनानेसे ही दोष पैदा होते हों तो उन दोषोंका वह स्वयं सुधार नहीं कर सकता। फिर उसका उत्कर्ष होकर उसके अपने स्वभावमें परिणत होनेतक जो बीचकी हालत है, उस समय होनेवाले तमोगुण और रजोगुणके हमलेसे मनुष्यको कौन बचायेगा? यहाँ उसका शास्ता है 'भक्त्यैव तु विस्तारः' इसलिये गुणविकासके लिये भक्ति-का सहारा आवश्यक है और उस गुण-विकासकी प्रक्रियाका अन्त भी भक्तिमें करना पड़ता है। यह एक विशेषता आध्यात्मिक और पारमार्थिक साधनामें है।

### बलवती बुद्धिकी मदद लेना भोलापन नहीं

हम अक्सर अपनी स्वतन्त्र बुद्धिसे निर्णय करनेकी बात कहा करते हैं। बहुत दफा कहते हैं, हम अपनी बुद्धि-का निर्णय मानेंगे। यह क्या चीज है? अपनी बुद्धिका मतलब क्या है? बुद्धि-प्रामाण्यवादी कहते हैं कि बुद्धिके द्वारा निर्णय हो। यहाँतक तो यह ठीक है। निर्णय बुद्धिसे तो होना ही चाहिये। लेकिन जो यह मानते हैं कि निर्णय अपनी बुद्धिसे ही हो, वे अपनी बुद्धिका ही प्रामाण्य मानते हैं। उनका यह विचार बुद्धि-प्रामाण्य-वाद नहीं। मैं मानता हूँ कि मेरा हाथ कमजोर है, इसलिये कई काम मैं अपने हाथसे नहीं कर सकता। अतः दूसरोंके मजबूत हाथोंसे वह काम करवा लेता हूँ। अगर मैं ही काम करता रहूँ हाथ टूट जाय तो भी परवा न करूँ, तो इसमें अक्लमन्दी नहीं है। वैसे ही अगर मैं जानता कि मेरी बुद्धि कमजोर है और दूसरेकी बुद्धि बलवान् तथा यह जानते हुए भी मैं अपनी ही बुद्धिसे निर्णय करूँगा—यह कहना मूर्खता है। जहाँ अपनी बुद्धि कमजोर हो, वहाँ अधिक बलवान् बुद्धिकी मदद लेना भोलेपनका लक्षण नहीं, वह अक्लकी ही प्रक्रिया है।

### शक्तिभर बुद्धिका उपयोग न करना भी आलस्य

बुद्धि-प्रामाण्यवादी बुद्धिसे ही निर्णय करनेपर मानता है। लेकिन हमेशा स्वबुद्धि प्रमाण नहीं होती। अगर

वह सिर्फ अपनी बुद्धिको प्रमाण मानेगा तो उसके बलसे उसकी प्रगति तो होगी, लेकिन आगे उसमें बाधा आयेगी। जहाँ उसकी अपनी बुद्धिकी सीमा आयेगी, वहाँ आकर उसकी प्रगति रुक जायगी; लेकिन अपनी बुद्धिकी जहाँतक पहुँच है, उसके अंदर उसे उपयोगमें न लाना भी गलत होगा। अपने हाथसे मैं भारी काम नहीं कर सकता, पर एक लोटा उठा सकता हूँ। मेरा हाथ कमजोर है, परंतु उसमें एक लोटा उठानेकी ताकत है। अगर उतना भी करना नहीं चाहूँगा, उसके लिये भी दूसरेपर निर्भर रहूँगा तो वह आलस्यका लक्षण होगा। इसलिये अपनी बुद्धिकी पहुँचके अंदर उससे पूरा काम लेना चाहिये। लेकिन जहाँ उसकी पहुँच न होती हो, ज्यादा भार आता हो, वहाँ अपनी बुद्धिसे अधिक बलवान् बुद्धिकी मदद लेनेमें कोई दोष नहीं। हर बुद्धिका उपयोग करना हमारा कर्तव्य है। इसीलिये हम सज्जनोंका मार्गदर्शन लेते हैं। परस्पर विचार-विनिमय भी करना पड़ता है। कुरानमें एक वाक्य है कि इस्लामके अनुयायी भक्तगण परस्पर सलाह-मशविरेसे तय करते हैं। कुरानने तो इसमें भक्त-लक्षण माना है। परस्पर सलाह-मशविरा करना यह बुद्धिका ही लक्षण है।

## परमेश्वरीय शक्ति काल्पनिक नहीं, अनुभव-सिद्ध है

परंतु दूसरोंकी बुद्धि भी कम पड़े तो क्या होगा? तो मानना होगा कि दुनियामें कोई एक परम शक्ति है, जिसे हम 'परमेश्वर' कहते हैं—उसका आधार मिलता है। उसका आधार लेते हैं तो मदद मिलती है। यह काल्पनिक वस्तु नहीं, प्रत्यक्ष अनुभवकी चीज है। अपनी बुद्धि जहाँ कम पड़ती है, हम किसीको गुरु मानकर उनकी बुद्धिकी मदद ले सकते हैं फिर भी कम पड़े तो परमेश्वरका आश्रय ले सकते हैं। वह तो बैंक है, वहाँ हमारी पूँजी रखी हुई है। बापकी जैसी रखी है। वह उसका ट्रस्टी होकर बैठा है। माँगते ही वह हमें दे देता है। वह तो हमारा ही बैंक है। आपका पैसा कुछ ट्रंकमें है और कुछ बैंकमें। ट्रंकका पैसा खतम होनेपर माँगनेसे बैंकका पैसा मिल सकता है। वैसे ही आपकी बुद्धि ही वहाँ भरी है, लेकिन हम माँगते ही नहीं। बल्कि जानते भी नहीं कि कैसे माँगा जाता है। लेकिन वहाँ वह रखी है। उसीके सहारे विस्तार होता है।

## सर्वत्र भक्तिकी जरूरत

इस तरह यहाँ भक्तिकी आवश्यकता होती है। भक्तिकी आवश्यकता गुण-विकासमें होती है। ज्ञानमें भी उसीकी जरूरत होती है। रजोगुण तथा तमोगुणके हमलोंसे बचनेके लिये भी भक्तिका सहारा लेना चाहिये। हर जगह उसकी जरूरत होती है। हमारी बुद्धि एक हदतक चलती है। मगर एक ऐसा बिन्दु होता है, जिसके बाद उससे नहीं चलता। उसकी शक्ति कम पड़ती है। उसके सप्लाईकी योजना विश्वमें मौजूद है। जो माँगकर ले सकेगा, उसे मिलेगी। जो माँगना नहीं जानता, उसे नहीं मिलेगी।

## दरअसल भक्ति उस किनारेकी चीज है

मैं सोचता हूँ तो लगता है, लोग नाहक भक्तिको इस किनारे ले आते हैं। दरअसल वह तो उस किनारे-की चीज है। इस किनारे तो प्रयत्नवादका ही काम है। जहाँतक अपनी बुद्धि चलती है, वहाँतक तो प्रयत्न करते ही रहना है। लेकिन लोग गलत प्रकारसे भक्ति करते हैं। अपनी प्रयत्नकी शक्ति पूरी लगाये बिना वहाँसे माँग करते हैं। भगवान्‌ने जो पैसा दिया है, वह खर्च किये बिना—हमारे ट्रंकमें जो पैसे हैं, उनका उपयोग किये बिना अगर हम बैंकसे नये पैसे माँगें तो वे कहाँसे मिलेंगे? भक्ति तो वास्तवमें वहीं आती है, जहाँ हमारे सारे प्रयत्न टूट जाते हैं। पर हिंदुस्तानमें ऐसी ही भक्ति चलती है। इस आलसी भक्तिसे कैसे काम होगा? यह तो एक तरहसे ईश्वरदत्त शक्तिकी अवहेलना करना है। उस शक्तिकी अवहेलना करके अगर हम आलस्य-भक्तिसे काम लेना चाहें, तो उससे काम नहीं बनेगा।

प्रेषक—दुर्गाप्रसाद

# प्रतिग्रह और पापसे भी ऋण अधिक हानिकर है

( लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका )

ऋण लेनेवाला व्यक्ति ऋणदाताको जबतक ऋण नहीं चुका देता, तबतक उसका इस लोक या परलोकमें कहीं कभी छुटकारा नहीं हो सकता। मरनेके बाद ऋण लेनेवालेको दूसरे जन्ममें ऋणदाताके माता, पिता, भाई, बन्धु, स्त्री, पुत्र या गाय, बैल, घोड़ा आदि पशुके रूपमें जन्म लेकर ऋण चुकाना पड़ता है। ऋण चुकाये बिना ऋणसे मुक्ति हो ही नहीं सकती, फिर परमपदकी प्राप्ति तो हो ही कैसे सकती है। यहाँ सरकारके राज्यमें तो कानूनके अनुसार तीन वर्षके बाद रुपये लौटानेकी अवधि समाप्त हो जाती है और भूमि, घर आदि स्थावर सम्पत्तिपर रुपया लेकर ऋणका कागज रजिस्ट्रेशन कराया हुआ हो तो बारह वर्षके बाद उन रुपयोंके भी लौटानेकी अवधि समाप्त हो जाती है। किंतु भगवान्‌के यहाँ हजारों वर्ष बीत जानेपर भी ऋणकी इस प्रकार समाप्ति नहीं होती। ब्याज ( सूद ) तो मूल रुपयोंसे अधिक न तो इस राज्यमें ही मिलता है और न परलोकमें ही। ऋणग्रहीता ऋणदाताका दिल दुखाकर जबरन् रुपयेका आठ आना या चार आना देकर उससे ऋण-मुक्तिका पत्र ले लेता है, तब भी शेष रुपयोंका ऋण ऋणग्रहीताके सिरपर रहता ही है। यदि ऋणदाताको मूलधन पूरा-का-पूरा दे दिया जाय और ब्याजको अनुनय-विनय करके क्षमा करा लिया जाय तो फिर ऋण तो सिरपर नहीं रहता, किंतु ऋणग्रहीता सहायता लेनेके रूपमें उसका उपकृत रहता है। यदि ऋणदाता अपना सर्वस्व भगवान्‌को समर्पण कर दे या वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाय तो ऋणग्रहीता भगवान्‌का ऋणी होकर रहता है—जैसे इस लोकमें कोई मनुष्य मर गया और उसका कोई भी उत्तराधिकारी न हो तो उसके धनका स्वामित्व सरकारपर चला जाता है। एवं यदि उस मृत मनुष्यका कोई ऋणी है और वह उस ऋणके रुपयोंको सरकारको दे देता है तो वह ऋणसे मुक्त हो जाता है। यदि कोई ऋणदाता मर गया और उसके उत्तराधिकारी—लड़का, लड़की, भाई, बन्धुमेंसे कोई भी जीवित हों तो उनको ऋण चुका देनेसे ऋणग्रहीता ऋणसे मुक्त हो सकता है। यदि ऋणदाता तो जीता है और ऋणग्रहीता मर गया और ऋणग्रहीताके पिता, पुत्र, भाई, बन्धु या कुटुम्बके लोग ऋणदाताको ऋणग्रहीताका ऋण चुका दें तो ऋणग्रहीता उससे मुक्त हो सकता है; किंतु यदि उसके कुटुम्बवाले ऋण लेनेके समय उसके शामिल न रहे हों तो ऋण चुकानेवाले उन कुटुम्बीजनोंका ऋण-ग्रहीतापर उपकार माना जायगा।

दान, दहेज और उपकार—इन तीनोंका अलग-अलग हिसाब है। इसे उदाहरणसे यों समझना चाहिये—

एक धनी वैश्यके एक विवाहिता लड़की थी। उस लड़कीके एक कन्या थी। उस कन्याके विवाहके लिये कम-से-कम दो हजार रुपयोंकी आवश्यकता थी, किंतु उस लड़की और उसके पतिके पास किसी प्रकारका धन नहीं था; अतः लड़कीने अपने धनी पितासे कन्या-के विवाहके लिये दो हजार रुपयोंकी इस प्रकार याचना की—'आप मुझे पाँच सौ रुपये तो जो मेरे आपके यहाँ जमा हैं, वे दे दीजिये; पाँच सौ रुपये घरके रीति-रिवाजके अनुसार आप दहेजमें देंगे ही। इनके अतिरिक्त पाँच सौ रुपये आप कन्याके विवाहमें सहायता-के रूपमें दे दीजिये, तथा शेष पाँच सौ रुपये ऋणके रूपमें दे दीजिये, जिन्हें मेरे पतिदेव उपार्जन करके चुका देंगे।' इसपर वह वैश्य राजी हो गया और उसके कथनानुसार रुपये दे दिये, जिससे कन्याका विवाह हो गया।

अब इन रुपयोंके सम्बन्धमें यों समझना चाहिये। पाँच सौ रुपये जो लड़कीके पिताके यहाँ जमा थे, वह तो पितापर ऋण था; अतः पिता उस ऋणसे मुक्त हो गया। तथा पाँच सौ रुपये जो पिताने दहेजके रूपमें दिये, उनपर उस लड़कीका अपना स्वत्व था, वह उसने पा लिया; अतः उन रुपयोंका किसीके साथ कोई लेन-देन नहीं रहा। पिताने जो पाँच सौ रुपये सहायताके रूपमें दिये, उनके लिये लड़की पिताकी उपकृत है, किंतु ऋणी नहीं। शेष पाँच सौ रुपये जो लड़कीने ऋणके रूपमें अपने पितासे लिये, उन रुपयोंको लड़की और उसके पतिको चुकाना होगा, चुकानेसे ही वे उस ऋणसे मुक्त हो सकते हैं। यदि इस जन्ममें वे रुपये नहीं चुकाये गये तो उन दोनोंको भावी जन्ममें किसी-न-किसी रूपमें उन्हें चुकाना पड़ेगा।

कोई मनुष्य किसीको दान देता है या किसीकी किसी प्रकारकी सहायता ( उपकार ) करता है या सेवा करता है तो उस दान या सहायता देने और सेवा करनेवालेको उसकी इच्छाके अनुसार फल मिलता है। यदि वह इस लोककी अथवा परलोककी किसी कामनाको लेकर ऐसा करता है, तब तो उसकी कामनाकी सिद्धि होती है और यदि कर्तव्य समझकर निष्काम भावसे करता है तो उसकी आत्मा पवित्र होकर उस उपकार अथवा सेवाके फलस्वरूप उसका उद्धार हो सकता है। दान या सहायता लेनेवाला और सेवा करानेवाला यदि उसका अधिकारी है—जैसे ब्राह्मणको दान लेनेका अधिकार है, माता-पिता, स्वामी, गुरु आदिका अपने पुत्र, भृत्य, शिष्य आदिसे सेवा करानेका अधिकार है—तो इस अधिकारके अनुसार दान, सहायता, सेवा लेनेवाले व्यक्ति उपकृत नहीं माने जाते। इनके अतिरिक्त जो भी किसीसे दान, सहायता या सेवा स्वीकार करता है, वह उसका उपकृत है; उसके बदलेमें उसकी सहायता, सेवा करना और उसका हित चाहना उस उपकृत मनुष्यका कर्तव्य है। यदि वह अपने इस कर्तव्यका पालन नहीं करता तो यह उसकी कृतघ्नता है। कृतघ्नता भी एक प्रकारका पाप ही है। जैसे पाप करनेवाला दण्डका भागी होता है और वह उस पापका फल भोगकर या ईश्वरके नामका जप, व्रत, उपवास, इन्द्रियसंयमरूप तप, प्राणियोंका उपकार आदि या शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करके उस पापसे मुक्त हो जाता है, वैसे ही वह कृतघ्न भी पापका फल भोगकर या उपर्युक्त साधन करके पापसे मुक्त हो सकता है। किंतु ऋणी तो ऋण चुकानेपर ही मुक्त होता है, किसी प्रायश्चित्तसे नहीं।

ब्राह्मणके अतिरिक्त अन्य वर्णवालोंको अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको दान लेनेका अधिकार नहीं है। पर इनमेंसे कोई आपत्तिकालमें यदि ऋण चुकानेके लिये किसीसे सहायताके रूपमें दान लेकर अपना ऋण चुका दे या ऋण छोड़ देनेके लिये ऋणदातासे अनुनय-विनय करनेपर ऋणदाता उसे सहायताके रूपमें ऋणमुक्त कर दे तो वह ऋणसे मुक्त हो सकता है। किंतु उसे सहायता देनेवालेकी अथवा ऋण छोड़ देनेवाले ऋणदाताकी बदलेमें समय-समयपर सेवा-सहायता करना उसका कर्तव्य हो जाता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो कृतघ्न समझा जाता है। इसीलिये धर्ममें आस्था रखनेवाले क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र दान या सहायता न लेकर ऋण ही लेते हैं; क्योंकि ऋणके रुपये चुकानेका तो उसपर भार रहता है, किंतु सेवा, दान और उपकारका विस्मरण भी हो जाता है, जिससे वे प्रत्युपकार नहीं कर पाते और फलस्वरूप कृतघ्न हो जाते हैं। यद्यपि ऋण और कृतघ्नता दोनों ही अपने-अपने स्थानपर बड़े भारी दोष हैं, तथापि उनमें कृतघ्नताका दोष तो जप, तप, व्रत, उपवास और प्रायश्चित्त आदि करनेसे दूर हो सकता है; किंतु ऋणसे छुटकारा तो ऋणदाताका ऋण चुकानेपर ही होता है।

इसलिये ऋणग्रहीता मनुष्यको, जिस-किसी प्रकारसे हो, ऋण चुका ही देना चाहिये। यदि ऋण चुकानेके लिये रुपये न हों तो अपने पास भूमि, घर, आभूषण आदि जो कुछ भी हो, उसे देकर ऋणदाताको संतुष्ट करना चाहिये। इससे भी ऋण पूरा न हो तो जितना ऋण बचे, उसके लिये ऋणदाताके कथनानुसार हैंडनोट आदि लिखकर संतोष कराये। अथवा यदि वह नौकरी-पर रखकर अपना रुपया वसूल करना चाहे तो उसकी नौकरी करके भी उसका ऋण चुका देना चाहिये। अधिक क्या कहा जाय, यदि अपनेको अथवा अपनी स्त्री-पुत्र आदिको बन्धक रखने या बेचनेसे भी ऋण चुकाया जा सकता हो तो चुका देना चाहिये। यदि ऋणदाता नालिश कर दे तो हाकिमसे कह देना चाहिये कि मुझे यह रुपया देना है, आप मुझपर डिग्री दे दें।' उसपर भी ऋणदाता संतुष्ट न हो और ऋणग्रहीताको कैद कराना चाहे तो उसके संतोषके लिये प्रसन्नता-पूर्वक कैद भी भोग लेनी चाहिये, पर किसी भी अवस्था-में ऋणदाताका प्रतिकार नहीं करना चाहिये।

अतएव मनुष्यको, जहाँतक हो, प्रथम तो ऋण कभी लेना ही नहीं चाहिये। यदि परिस्थितिवश लेना ही पड़े तो उसे जीतोड़ प्रयत्न करके उपर्युक्त प्रकारोंमेंसे किसी-न-किसी रूपमें न्याययुक्त रीतिसे चुका ही देना चाहिये।

अनाथालय, गोशाला, पाठशाला, धार्मिक संस्था, मठ, मन्दिर, क्षेत्र आदिके रुपये, अन्य किसी धार्मिक कार्यके लिये एकत्र किये हुए रुपये तथा ब्राह्मण, विधवा स्त्री, बहिन-बेटी आदिके रुपये तो अन्य ऋणोंकी अपेक्षा भी अधिक भाररूप होते हैं। इसलिये अपनेपर कभी आपत्ति आये तो मनुष्यको पहले इस ऋणको चुका देना चाहिये। यदि अपने पाससे भी दान देकर उनके नामसे खातेमें जमा कर लिया गया हो, तो भी वही बात समझनी चाहिये; क्योंकि जो रुपये जिसको दिये जा चुके, वे उसीके हो गये। इस विषयमें कोई-कोई व्यक्ति यह मान लेते हैं कि हमारे पिताने मरते समय इतने रुपये धर्मार्थ निकाले थे अथवा हमने ही ये रुपये धर्मार्थ निकाले थे, इनको 'यदि हम न भी दें तो कोई आपत्ति नहीं है; किंतु यह समझना भूल है। क्योंकि धर्मार्थ निकाले हुए रुपयोंको कोई मालिक बनकर तो जबरन् वसूल करता नहीं, भगवान् भी प्रकटमें आकर माँगते नहीं; इसलिये उन रुपयोंका भार तो अपने ऊपर विशेषरूपसे मानना चाहिये।

ऐसे रुपयोंको या तो कहीं अन्यत्र जमा करके अच्छे आदमियोंका उनपर अधिकार कर देना चाहिये; या गोशाला, विद्यालय, मन्दिर आदि जिस कार्यके लिये रुपये जमा किये गये हों, उस कार्यमें तुरंत लगा देना चाहिये; अथवा अच्छे-अच्छे आदमियोंका एक ट्रस्ट बनाकर उनके हाथमें सौंप देना चाहिये। क्योंकि मनुष्यपर संकट और विपत्तियाँ तो आती ही रहती हैं और जब विपत्ति आती है तब पावनेदार तो जबरन् उनको वसूल कर सकता है; किंतु जिसका भगवान्‌के सिवा कोई मालिक नहीं है, उस धनको कौन वसूल करे। अतः वह ऋणीके सिरपर ही रह जाता है। जिस प्रकार लावारिश-के धनकी मालिक सरकार होती है, उसी प्रकार धर्मार्थ निकाले हुए रुपयोंके मालिक भगवान् हैं। अतः भगवान् उस ऋणीको इस जन्ममें या भावी जन्ममें सरकारके द्वारा अतिशय कर लगा देना, दैवी प्रकोपके द्वारा धन नष्ट कर देना आदि नाना प्रकारके संकटोंमें डालकर उससे रुपये वसूल करते हैं। अतएव मनुष्यको धर्मार्थ निकाले हुए रुपयोंको गुरुतर समझकर शरीर रहते-रहते ही उपर्युक्त किसी भी प्रकारसे उनका प्रबन्ध कर देना चाहिये।

# वैष्णव-सदाचार

( गताङ्कसे आगे )

## श्रीनृसिंहचतुर्दशी

वैशाखे शुक्लपक्षे तु चतुर्दश्यां महातिथौ ।
नृहरेरवताराद् तां यत्नतः समुपोषयेत् ॥
महापुण्यतमायां च सायं विष्णुं प्रपूजयेत् ।

( श्रीहरिभक्तिविलास )

'वैशाख मासके शुक्लपक्षमें चतुर्दशी महातिथिको श्रीनरसिंहभगवान् अवतरित हुए थे । इस महापुण्यमयी तिथिमें उपवास करके संध्याकालमें भगवान् विष्णुकी पूजा करे ।' परंतु बृहन्नरसिंहपुराणमें त्रयोदशी-विद्धा चतुर्दशीमें उपवासका निषेध है ।

जैसे—

वैष्णवैर्न तु कर्त्तव्या स्मरविद्धा चतुर्दशी ।

## श्रीजन्माष्टमी-व्रत

इस व्रतके सम्बन्धमें गौतमीय तन्त्रमें लिखा है—

अथ भाद्रासिताष्टम्यां प्रादुरासीत्स्वयं हरिः ।
ब्रह्मणा प्रार्थितः पूर्वं देवक्यां कृपया विभुः ॥
रोहिण्यृक्षे शुभतिथौ दैत्यानां नाशहेतवे ।
महोत्सवं प्रकुर्वीत यत्नतस्तद्दिने शुभे ॥
राजन्यैर्ब्राह्मणैर्वैश्यैः शूद्रैश्चैव स्वशक्तितः ।
उपवासः प्रकर्त्तव्यो न भोक्तव्यं कदाचन ॥
कृष्णजन्मदिने यस्तु भुङ्क्ते स तु नराधमः ।
निवसेन्नरके घोरे यावदाभूतसम्प्लवम् ॥

'ब्रह्माके द्वारा प्रार्थित होनेपर स्वयं श्रीहरि दैत्योंका नाश करनेके लिये रोहिणी नक्षत्रसे युक्त शुभ तिथि भाद्रपदकी कृष्णाष्टमीको कृपापूर्वक देवकीके गर्भसे प्रादुर्भूत हुए थे । अतएव उस शुभ दिनको यत्नपूर्वक महोत्सव करे । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभी अपनी शक्तिके अनुसार उपवास करें, कदापि भोजन न करें । जो मनुष्य श्रीकृष्णके जन्मके दिन भोजन करता है, वह नराधम महाप्रलयपर्यन्त घोर नरकमें वास करता है ।' यह व्रत अवश्यकर्तव्य है । विष्णुरहस्यमें लिखा है—

कृष्णजन्माष्टमीं त्यक्त्वा योऽन्यव्रतमुपासते ।
नाप्नोति सुकृतं किंचिद् दृष्टं श्रुतमथापि वा ॥
धनधान्यवहा पुण्या सर्वपापहरा शुभा ।
समुपोष्या नरैर्यत्नाज्जयन्ती कृष्णभक्तिदा ॥

'जन्माष्टमी-व्रतका परित्याग करके जो मनुष्य अन्य व्रतका अनुष्ठान करता है, उसको दृष्ट या श्रुत कोई भी पुण्य-फल नहीं प्राप्त होता । जयन्ती अर्थात् जन्माष्टमीमें उपवास करनेसे यह शुभ तिथि धन-धान्य और पुण्य प्रदान करती है, सारे पापोंको हर लेती है, मङ्गलविधान करती है तथा श्रीकृष्णभक्ति प्रदान करती है ।'

वर्जनीया प्रयत्नेन सप्तमीसंयुताष्टमी ।
विना ऋक्षेण कर्त्तव्या नवमीसंयुताष्टमी ॥

( पद्मपुराण )

'( रोहिणी नक्षत्र होनेपर भी ) सप्तमीयुक्ता अष्टमीका व्रत नहीं करना चाहिये । यदि रोहिणी नक्षत्र न भी प्राप्त होता हो, तो भी नवमीयुक्ता अष्टमीको ही उपवास करना ठीक है ।'

तथा—

पूर्वविद्धा यथा नन्दा वर्जिता श्रवणान्विता ।
तथाष्टमीं पूर्वविद्धां सधृक्षां च विवर्जयेत् ॥

( पद्मपुराण )

'जैसे दशमीविद्धा एकादशी श्रवणनक्षत्रसे युक्त होनेपर भी वर्जित है, उसी प्रकार सप्तमीविद्धा अष्टमी रोहिणी नक्षत्रयुक्त होनेपर भी वर्जित है ।' परंतु—

सप्तमीसंयुताष्टम्यां निशीथे रोहिणी यदि ।
भविता चाष्टमी पुण्या यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥

अर्थात् 'यदि सप्तमीयुक्त अष्टमीको आधीरातमें रोहिणी नक्षत्र आ जाय तो उस अष्टमीको व्रत करनेसे जबतक चन्द्र-सूर्य रहेंगे, वह तबतकके लिये पुण्यप्रदा होगी ।'

## श्रीराधाष्टमी

भाद्रशुक्ला अष्टमीको 'राधाष्टमी'का व्रत करे । मध्याह्नकालमें कलशपर स्थापित श्रीराधिकाजीकी स्वर्णमयी प्रतिमाका पूजन करे और एकभुक्त व्रत करे । शक्ति हो तो पूरा उपवास करे । दूसरे दिन भक्तिपूर्वक सुवासिनी स्त्रियोंको भोजन कराके पश्चात् स्वयं भोजन करे । राधाष्टमीका व्रत करनेसे व्रजका परम गुह्य रहस्य जाना जाता है और व्रतीको श्रीराधा-परिकरोंमें स्थान मिलता है—

व्रतेनानेन विप्रर्षे कृतेन विधिना व्रती ।
रहस्यं गोष्ठजं लब्ध्वा राधापरिकरे वसेत् ॥

## श्रीवामनद्वादशी

भाद्रस्य शुक्लद्वादश्यां युक्तायां श्रवणेन हि ।
उपोष्य संगमे स्नात्वा देवं वामनमर्चयेत् ॥
( श्रीहरिभक्तिविलास )

'भाद्रपदमें शुक्लपक्षकी द्वादशी यदि श्रवण नक्षत्रसे युक्त हो तो उस दिन व्रती रहकर नदी-संगमपर स्नान करके श्रीवामनभगवान्‌की अर्चना करे ।'

नारदपुराणमें कहा है—

यदि न प्राप्यते ऋक्षं द्वादश्यां वैष्णवं क्वचित् ।
एकादशी तदोपोष्या पापघ्नी श्रवणान्विता ॥
दिनद्वयेऽपि श्रवणाभावे तद्योगहानितः ।
एकादश्यामुपोष्यैव द्वादश्यां वामनं यजेत् ॥

'यदि द्वादशीको किसी भी समय वैष्णव नक्षत्र ( श्रवण ) प्राप्त न हो तो श्रवणयुक्ता एकादशीको ही उपवास करना चाहिये । वह सब पापोंका नाश करती है । यदि दोनों तिथियोंमें श्रवण नक्षत्रका अभाव हो तो एकादशीको उपवास करके द्वादशीको वामनभगवान्‌की अर्चा करे ।'

संकल्प-मन्त्र—

एकादश्यां निराहारः स्थित्वा चैवापरेऽहनि ।
भोक्ष्ये श्रीवामनानन्त ! शरणागतवत्सल ॥

'हे शरणागतवत्सल ! हे अनन्त ! हे वामनदेव ! मैं एकादशीको निराहार रहकर दूसरे दिन भोजन करूँगा ।'

## श्रीशिवरात्रि

शिवरात्रिव्रतं कृष्णचतुर्दश्यां तु फाल्गुने ।
वैष्णवैरपि तत् कार्यं श्रीकृष्णप्रीतये सदा ॥
( श्रीहरिभक्तिविलास )

'फाल्गुन मासकी कृष्णाचतुर्दशीको शिवरात्रि-व्रत होता है । यह व्रत सदा वैष्णवोंको भी श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये करना चाहिये ।' पद्मपुराणमें आया है—

सौरो वा वैष्णवो वान्यो देवतान्तरपूजकः ।
न पूजाफलमाप्नोति शिवरात्रिबहिर्मुखः ॥

'सूर्यका उपासक हो, वैष्णव हो, कोई दूसरा हो अथवा किसी अन्य देवताकी पूजा करनेवाला हो, शिवरात्रि-व्रत न करनेपर उसे पूजाका फल नहीं प्राप्त होता ।'

शिवरात्रौ च कर्तव्यं नियमेन त्रयं बुधैः ।
उपवासो महादेवपूजा जागरणं निशि ॥

'बुद्धिमान् पुरुषोंको चाहिये कि शिवरात्रिको तीन बातें विधिपूर्वक करें—उपवास, शङ्करजीका पूजन और रात्रिमें जागरण ।'

### व्रत-विधि

सायं शिवालयं गत्वा शुचिराचम्य च व्रती ।
कृत्वा शिवाग्रे संकल्पमारभेत तदर्चनम् ॥
पञ्चाक्षरेण मन्त्रेण शतरुद्रेण वा द्विजः ।
क्षीरादिभिश्च शुद्धाद्भिर्धारया स्नापयेच्छिवम् ॥
महार्चां विधिना कृत्वा गन्धपुष्पतिलादिभिः ।
समर्प्य धूपदीपादीन् शङ्खेनार्घ्यं निवेदयेत् ॥

'व्रती पवित्र होकर संध्याकालमें शिवालयमें जाकर आचमन करके शिवजीके आगे संकल्प करके उनकी पूजा आरम्भ करे । द्विज पञ्चाक्षर ( नमः शिवाय ) मन्त्र या शतरुद्रिय मन्त्रोंका पाठ करके क्रमशः दुग्ध, घृत, मधु तथा विशुद्ध जलके द्वारा शिवजीको स्नान कराये । तत्पश्चात् विधिपूर्वक गन्ध, पुष्प, तिल आदिके द्वारा महापूजा करके धूप-दीप निवेदन करते हुए शङ्खके द्वारा अर्घ्य प्रदान करे ।'

### अर्घ्य-प्रदानका मन्त्र

गौरीवल्लभ देवेश सर्पाढ्य शशिशेखर ।
वर्षपापविशुद्ध्यर्थमर्घ्यं मे प्रतिगृह्यताम् ॥

'हे गौरीवल्लभ ! हे देवेश ! हे सर्पविभूषण ! हे चन्द्रशेखर ! वर्षभरके पापोंको दूर करनेके लिये मैं यह अर्घ्य प्रदान करता हूँ, इसे ग्रहण कीजिये ।'

आचार्यं परिपूज्याथ दत्त्वा तस्मै च दक्षिणाम् ।
विधिवज्जागरं कृत्वा प्रातः पारणमाचरेत् ॥

'तत्पश्चात् आचार्य, पुरोहित अथवा पुजारीको दक्षिणा देकर विधिपूर्वक जागरण करके प्रातःकाल पारण करे ।'

भगवान् शिव और विष्णुमें भेदबुद्धि न करे । भगवान् विष्णुके वचन हैं—

यः शिवः सोऽहमेवेह योऽहं स भगवान् शिवः ।
नावयोरन्तरं किंचिदाकाशानिलयोरिव ॥
( हयशीर्षपञ्चरात्र )

'जो शिव हैं, वही मैं हूँ; जो मैं हूँ, वही भगवान् शिव हैं । जैसे आकाश और वायुमें कोई भेद नहीं है, वैसे ही शिवमें और मुझमें कोई भेद नहीं है ।'

भगवान् शिवने भी कहा है—

यो ऽहं स हरिर्ज्ञेयो यो हरिः सोऽहमित्युत ।
नावयोरन्तरं किंचिद् दीपयोरिव सुव्रत ॥
एनं द्वेष्टि स मां द्वेष्टि योऽन्वेत्येनं स मानुगः ॥
( स्कन्दपुराण, कुमार० )

'जो मैं हूँ, वही भगवान् शिव हैं, जो भगवान् विष्णु हैं, वही मैं हूँ। जैसे दो दीपकोंमें प्रकाशकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं होता, वैसे ही हम दोनोंमें किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं है। जो उनसे द्वेष करता है, वह मुझसे ही द्वेष करता है। जो उनका अनुगमन करता है, वह मेरा ही अनुगमन करता है।'

## श्रीरामनवमी

चैत्रे मासि नवम्यां तु जातो रामः स्वयं हरिः ।
पुनर्वस्वृक्षसंयुक्ता सा तिथिः सर्वकामदा ॥
सैव मध्याह्नयोगेन महापुण्यतमा भवेत् ॥
नवमी चाष्टमीविद्धा त्याज्या विष्णुपरायणैः ।
उपोषणं नवम्यां वै दशम्यामेव पारणम् ॥
दशम्यां पारणायाश्च निश्चयान्नवमीक्षये ।
विद्धापि नवमी ग्राह्या वैष्णवैरप्यसंशयम् ॥
( श्रीहरिभक्तिविलास )

'चैत्रमासके शुक्ल पक्षकी नवमीको स्वयं हरि श्रीरामचन्द्रने अपनेको प्रकट किया था। पुनर्वसु नक्षत्रका योग होनेपर यह तिथि सब कामनाओंको सिद्ध करती है। मध्याह्न-समयमें पुनर्वसुका योग होनेपर तो यह तिथि महापुण्यस्वरूपा बन जाती है। वैष्णवोंको अष्टमीविद्धा नवमीका त्याग करते हुए शुद्धा नवमीमें उपवास करके दशमीको पारण करना चाहिये। दशमीको पारण करना ही चाहिये; अतएव यदि नवमीका क्षय हो तो अष्टमीविद्धा नवमीमें उपवास करे।'

अगस्त्यसंहितामें लिखा है—

एकामपि नरो भक्त्या श्रीरामनवमीं मुने ।
उपोष्य कृतकृत्यः सन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

'मनुष्य यदि एक भी श्रीरामनवमी-व्रत भक्तिपूर्वक कर लेता है तो वह कृतकृत्य हो जाता है और सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

## शालग्राम-पूजा

श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है—

सेव्या निजनिजैरेव मन्त्रैः स्वस्वेष्टमूर्त्तयः ।
शालग्रामात्मके रूपे नियमो नैव विद्यते ॥
शालग्रामशिलास्पर्शात् कोटिजन्माघनाशनम् ।
किं पुनर्यजनं तत्र हरिसांनिध्यकारकम् ॥

अर्थात् अपने-अपने इष्ट-मन्त्रोंद्वारा श्रीशालग्राम-शिलामें अपने-अपने अभीष्ट देवकी अर्चना करे। इस पूजा-कार्यमें कोई नियम नहीं है। शालग्राम-शिलाके स्पर्शमात्रसे कोटि जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं। अतएव उनकी पूजा करनेसे जो फल होता है, उसे कहाँतक कहें। उसके द्वारा श्रीहरिके चरणारविन्दकी प्राप्ति होती है।'

पद्मपुराणमें शालग्राम-पूजाका माहात्म्य इस प्रकार मिलता है—

कामैः क्रोधैः प्रलोभैश्च व्याप्तो योऽत्र नराधमः ।
सोऽपि याति हरेर्लोकं शालग्रामशिलार्चनात् ॥
दीक्षाविधानमन्त्रज्ञश्चक्रे यो बलिमाहरेत् ।
स याति वैष्णवं धाम सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥

'इस संसारमें जो नराधम काम, क्रोध और लोभसे परिपूर्ण हैं, वह भी यदि शालग्राम-शिलाकी अर्चना करता है तो उसे विष्णुलोककी प्राप्ति होती है। दीक्षा-विधानके अनुसार जिसने मन्त्र ग्रहण किया है, वह यदि शालग्राम-शिलाको पूजोपहार प्रदान करता है तो वह विष्णुलोकको जाता है।' स्कन्दपुराणका वचन है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां सच्छूद्राणामथापि वा ।
शालग्रामेऽधिकारोऽस्ति न चान्येषां कदाचन ॥

अर्थात् 'ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तथा सत्-शूद्र—इनका शालग्रामपूजामें अधिकार है। अन्यका अर्थात् असत् शूद्रका अधिकार नहीं है।' पद्मपुराणका वचन है—

स्त्रियो वा यदि वा शूद्रा ब्राह्मणाः क्षत्रियादयः ।
पूजयित्वा शिलाचक्रं लभन्ते शाश्वतं पदम् ॥

'स्त्री, शूद्र या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—कोई भी शालग्रामकी पूजा करके नित्यधाम वैकुण्ठको प्राप्त कर लेता है।'

## श्रीमूर्ति और उसकी पूजा

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा मता ॥
( श्रीमद्भागवत )

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें श्रीभगवान् उद्धवसे कहते हैं—'हे उद्धव! मेरी प्रतिमा आठ प्रकारकी होती है—( १ ) पत्थरसे निर्मित, ( २ ) दारुमयी अर्थात्

काष्ठद्वारा निर्मित, (३) धातुमयी अर्थात् स्वर्णादि धातुद्वारा निर्मित, (४) लेप्या अर्थात् मृत्तिका, चन्दन आदिके द्वारा अङ्कित या गठित, (५) लेख्या अर्थात् चित्रमयी या चित्रपटपर अङ्कित। (६) वालुकामयी अर्थात् वालुकाद्वारा निर्मित या बालुकाके ऊपर अङ्गुलिद्वारा अङ्कित। (७) मनोमयी अर्थात् कल्पनाद्वारा मानसपटपर अङ्कित तथा (८) मणिमयी अर्थात् मणि-माणिक्यादिद्वारा निर्मित।

द्विभुजा जलदश्यामा त्रिभङ्गी मधुराकृतिः।
सेव्या ध्यानानुरूपैश्च मूर्त्तिः कृष्णस्य दैवतैः॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

'ध्यानानुरूप मूर्त्तियोंके द्वारा श्रीकृष्णकी अर्चना करे। यह मूर्त्ति द्विभुज, मेघके समान श्यामवर्ण तथा त्रिभङ्ग अर्थात् तीन स्थानोंमें वक्र हो, तथा मनको मोह लेनेवाली मधुर आकृतिसे युक्त हो।'

इसी प्रकार भगवान् विष्णु, भगवान् शिव या अपने-इष्टदेवकी मूर्तिका शास्त्रवर्णनानुसार निर्माण करके उनकी पूजा करनी चाहिये।

## आरात्रिक

श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है—

महानीराजनं कुर्यान्महावाद्यजयस्वनैः।
प्रज्वालत् तदर्थं च कर्पूरेण घृतेन वा॥
आरात्रिकं शुभे पात्रे विषमानेकवर्त्तिकम्॥

'महावाद्य और जयध्वनिके साथ-साथ महानीराजन अर्थात् आरती करे। इसके लिये सुवर्ण आदि धातुके बने उत्तम विस्तीर्ण पात्रमें कर्पूर या घृतद्वारा एक, तीन, पाँच आदि विषम संख्याकी अनेक बत्तियोंसे विशिष्ट दीप जलाये।'

बहुवर्त्तिसमायुक्तं ज्वलन्तं केशवोपरि।
कुर्यादारात्रिकं यस्तु कल्पकोटिं वसेद्दिवि॥
(स्कन्दपुराण)

'जो मनुष्य अनेक बत्तियों द्वारा प्रज्वलित दीपसे श्रीकेशवके मस्तकके ऊपर आरती करता है, वह कोटि कल्पोंतक स्वर्गमें वास करता है।'

तथा—

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं यत्कृतं पूजनं हरेः।
सर्वं सम्पूर्णतामेति कृते नीराजने शिवे॥

शिवजी कहते हैं कि 'हे पार्वति! श्रीभगवान्‌की पूजा यदि मन्त्रहीन और क्रियाहीन भी होती है, तो भी आरती करनेपर वह सारी-की-सारी पूर्णताको प्राप्त हो जाती है।'

विष्णुधर्मोत्तरमें लिखा है—

धूपं चारात्रिकं पश्येत् कराभ्यां च प्रवन्दते।
कुलकोटिं समुद्धृत्य याति विष्णोः परं पदम्॥

'जो धूप और आरतीका दर्शन करता है तथा दोनों हाथोंसे उनकी वन्दना करता है, उसकी करोड़ पीढ़ियोंका उद्धार हो जाता है और वह विष्णुके परम धामको प्राप्त होता है।'

## उत्सव-दर्शन

रथस्थं ये निरीक्षन्ते कौतुकेनापि केशवम्।
देवतानां गणाः सर्वे भवन्ति श्वपचादयः॥
(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु)

'जो लोग कौतुकवश भी रथमें अवस्थित श्रीकेशवके श्रीविग्रहका दर्शन करते हैं, वे यदि चाण्डालादि नीच जातिके हों, तो भी उनकी गणना श्रीविष्णुके पार्षदोंमें होती है।'

## सेवापराध और उनका निवारण—

श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है—

यानैर्वा पादुकैर्वापि गमनं भगवद्गृहे।
देवोत्सवाद्यसेवा च अप्रणामस्तदग्रतः॥
उच्छिष्टे वाथवाशौचे भगवद्दर्शनादिकम्।
एकहस्तप्रणामश्च तत्पुरस्तात् प्रदक्षिणम्॥
पादप्रसारणं चाग्रे तथा पर्यङ्कबन्धनम्।
शयनं भक्षणं वापि मिथ्याभाषणमेव च॥
उच्चैर्भाषा मिथो जल्पो रोदनानि च विग्रहः।
निग्रहानुग्रहौ चैव नृषु च क्रूरभाषणम्॥
कम्बलावरणं चैव परनिन्दा परस्तुतिः।
अश्लीलभाषणं चैव अधोवायुविमोक्षणम्॥
शक्तौ गौणोपचारश्च अनिवेदितभक्षणम्।
तत्तत्कालोद्भवानां च फलादीनामनर्पणम्॥
विनियुक्तावशिष्टस्य प्रदानं व्यञ्जनादिके।
पृष्ठीकृत्यासनं चैव परेषामभिवादनम्॥
गुरौ मौनं निजस्तोत्रं देवतानिन्दनं तथा।
अपराधास्तथा विष्णोर्द्वात्रिंशत् परिकीर्तिताः॥

'श्रीभगवान् विष्णुकी सेवामें बत्तीस प्रकारके अपराध बतलाये गये हैं, जैसे—(१) सवारीपर चढ़कर या चरण-पादुका धारण करके श्रीमन्दिरमें गमन करना, (२) जन्माष्टमी

आदि देवोत्सवोंमें शामिल न होना, ( ३ ) श्रीमूर्त्तिका दर्शन करके प्रणाम न करना, ( ४ ) उच्छिष्ट या अशुचि अवस्थामें भगवत्-दर्शनादि करना, ( ५ ) एक हाथसे प्रणाम करना, ( ६ ) श्रीविग्रहके सामने प्रदक्षिणा करना, ( ७ ) श्रीविग्रहके आगे पैर फैलाना तथा ( ८ ) दोनों घुटनोंको पकड़कर बैठना, ( ९ ) लेटना, ( १० ) भोजन करना, ( ११ ) मिथ्याभाषण, ( १२ ) उच्च स्वरसे बोलना, ( १३ ) आपसमें बातें करना, ( १४ ) रोना-पीटना, ( १५ ) झगड़ा करना, ( १६ ) किसीको डाँटना या दण्ड देना और ( १७ ) किसीके ऊपर अनुग्रह करना ( आशीर्वाद या वरदान देना ), ( १८ ) किसीको कड़ी बात कहना, ( १९ ) कम्बल ओढ़ना, ( २० ) परनिन्दा और ( २१ ) परस्तुति करना, ( २२ ) अश्लीलभाषण करना, ( २३ ) अधोवायुका त्याग करना ( ६ से २३ तकके कार्य श्रीविग्रहके आगे करनेसे सेवापराध लगता है ), ( २४ ) शक्ति रहते हुए भगवान्की गौणरूपसे सेवा करना, ( २५ ) भगवान्को बिना निवेदन किये ही भोजन करना, ( २६ ) मौसिमी फल आदिको भगवत्समर्पण न करना, ( २७ ) अपने उपयोगसे अवशिष्ट पदार्थको भगवान्के व्यञ्जनादिमें प्रदान करना, ( २८ ) श्रीविग्रहकी ओर पीठ देकर बैठना, ( २९ ) श्रीविग्रहके सामने दूसरोंको प्रणाम करना, ( ३० ) श्रीगुरुके आनेपर उन्हें अभिवादन न करना, ( ३१ ) अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना, ( ३२ ) दूसरे देवताकी निन्दा करना । तथा—

ये वै न वर्जयन्त्येतानपराधान् मयोदितान् ।
सर्वधर्मपरिभ्रष्टाः पच्यन्ते नरके चिरम् ॥

'जो मेरे बतलाये हुए इन अपराधोंका त्याग नहीं करते, वे सारे धर्मोंसे च्युत होकर चिरकालतक नरकभोग करते हैं ।' स्कन्दपुराणमें आता है—

अहन्यहनि यो मर्त्यो गीताध्यायं तु सम्पठेत् ।
द्वात्रिंशदपराधैस्तु अहन्यहनि मुच्यते ॥
तुलस्या कुरुते यस्तु शालग्रामशिलार्चनम् ।
द्वात्रिंशदपराधांश्च क्षमते तस्य केशवः ॥
द्वादश्यां जागरे विष्णोर्यः पठेत् तुलसीस्तवम् ।
द्वात्रिंशदपराधानि क्षमते तस्य केशवः ॥

'जो मनुष्य प्रतिदिन एक अध्याय गीतापाठ करता है, उसके प्रतिदिनके बत्तीस अपराध छूट जाते हैं । जो तुलसीके द्वारा शालग्राम-शिलाका अर्चन करता है, उसके बत्तीसों अपराधोंको केशव क्षमा कर देते हैं । जो द्वादशी-व्रतके जागरणमें तुलसीस्तोत्रका पाठ करता है, उसके बत्तीस अपराधोंको केशव क्षमा करते हैं ।'

## यथाविधि भक्ति-साधन

शास्त्र कहते हैं—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते ।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥
( श्रीभक्तिसन्दर्भ )

श्रीभगवान् कहते हैं कि 'श्रुति और स्मृति मेरी ही आज्ञा हैं । जो मनुष्य वेद और स्मृतिका उल्लङ्घन करता है, वह मेरी आज्ञाकी अवहेलना करनेके कारण मेरा द्वेषी है । ऐसा मनुष्य मेरा भक्त होनेपर भी वैष्णव नहीं है ।' अतएव विधिपूर्वक शास्त्रानुसार आचरण करते हुए भक्ति-साधना करनी चाहिये ।

## वैष्णव-माहात्म्य और वैष्णव-सेवा

श्रीकृष्णके चरणारविन्दकी प्रातिके लिये उनकी उपासनाके साथ-साथ उनके भक्तोंका यथायोग्य सेवा-सत्कार करना परम कर्त्तव्य है । वैष्णव-सेवासे विहीन कृष्ण-सेवा कदापि सार्थक नहीं होती । पद्मपुराणमें लिखा है—

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम् ।
तस्मात् परतरं देवि ! तदीयानां समर्चनम् ॥

शिवजी कहते हैं—'हे पार्वति ! सब प्रकारकी आराधनाओंमें विष्णुकी आराधना श्रेष्ठ है और वैष्णवकी सम्यक्‌रूपसे अर्चना ( सेवा-सत्कार ) तो उससे भी बढ़कर है ।' श्रीहरि-भक्ति-विलास ( दशम-विलास ) में लिखा है—

न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः ।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम् ॥

श्रीभगवान्को वैष्णव प्रिय है । चारों वेदोंका जाननेवाला ब्राह्मण भी यदि भक्त नहीं है तो उनको प्रिय नहीं हो सकता; इसके विपरीत यदि श्वपच ( चाण्डाल ) भी विष्णुभक्तिरत है तो वह प्रभुको प्रिय है । अतएव वह वैष्णव है । प्रभुके समान ही उसकी पूजा होनी चाहिये । उसको देना चाहिये, तथा उससे लेना भी चाहिये । यह प्रभुकी आज्ञा है ।

समीपे तिष्ठते यस्य ह्यन्तकालेऽपि वैष्णवः ।
गच्छते परमं स्थानं यद्यपि ब्रह्महा भवेत् ॥
( गरुडपुराण )

'जिस मनुष्यकी मृत्युके समय पासमें वैष्णव उपस्थित रहता है, वह मनुष्य यदि ब्रह्महत्याका पापी हो तो भी परमपदको प्राप्त होता है।' यह वैष्णवकी महिमा है।

यत्र रागादिरहिता वासुदेवपरायणाः।
तत्र संनिहितो विष्णुर्नृपते नात्र संशयः॥
न गन्धैर्न तथा तोयैर्न पुष्पैश्च मनोहरैः।
सांनिध्यं कुरुते देवो यत्र सन्ति न वैष्णवाः॥
लिप्यन्ते न च पापेन वैष्णवा विष्णुतत्पराः।
पुनन्ति सकलाँल्लोकाँस्ते तीर्थमधिकं ततः॥

(श्रीहरिभक्तिविलास)

'जिस स्थानपर राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित वासुदेव-परायण वैष्णवजन निवास करते हैं, उस स्थानमें श्रीविष्णु-भगवान् विद्यमान रहते हैं, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। इसके विपरीत जहाँ वैष्णव नहीं हैं, वहाँ गन्ध, जल और मनोहर पुष्पों आदि पूजा-सामग्रीके उपस्थित होनेपर भी भगवान्का सांनिध्य नहीं होता। श्रीविष्णु-भगवान्की सेवामें तत्पर वैष्णव पापसे लिप्त नहीं होते, अपितु वे सब लोकोंको पवित्र करते हैं; अतएव वे महातीर्थस्वरूप हैं।

आदिपुराणमें श्रीभगवान् कहते हैं—

ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः।
मद्भक्तानां च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः॥

'हे अर्जुन! जो केवल मेरी भक्ति करते हैं (और मेरे भक्तोंका सत्कार नहीं करते, वे मेरे भक्त नहीं हैं। मेरे श्रेष्ठ भक्त वे हैं, जो मेरे भक्तोंकी भक्ति करते हैं, अर्थात् मेरे भक्तोंको सेवा-सत्कार प्रदान करते हैं।' पद्मपुराणमें यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं—

वैष्णवो यद्गृहे भुङ्क्ते येषां वैष्णवसंगतिः।
तेऽपि वः परिहार्याः स्युस्तत्सङ्गहतकिल्बिषाः॥

'हे दूतो! जिनके घरमें वैष्णव भोजन करता है तथा जिनको वैष्णवका सङ्ग प्राप्त है, उनके पास भी तुमलोग मत जाना; क्योंकि वैष्णवोंके सङ्गसे उनके पाप नष्ट हो गये रहते हैं।'

## वैष्णव-सम्मान-विधि

वैष्णवो वैष्णवं दृष्ट्वा दण्डवत् प्रणमेद्भुवि।
उभयोरन्तरो विष्णुः शङ्खचक्रगदाधरः॥

(तेजोद्रविणपञ्चरात्र)

'वैष्णव वैष्णवको देखकर पहले दण्डवत् प्रणाम करे। क्योंकि शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी श्रीहरि दोनोंके अन्तरमें अवस्थित रहते हैं।

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं यद् यूयं गृहमागताः।
दुर्लभं दर्शनं नूनं वैष्णवानां यथा हरेः॥
मेरुमन्दरतुल्या वै पुण्यपुञ्जा मया कृताः।
सम्प्राप्तं दर्शनं यद्वै वैष्णवानां महात्मनाम्॥
दृष्ट्वा भागवतं दैवात् सम्मुखे यो न याति हि।
न गृह्णाति हरिस्तस्य पूजां द्वादशवार्षिकीम्॥

वैष्णव घरपर आये तो इस प्रकार कहकर उसकी अभ्यर्थना करे—'आपने हमारे घरपर पदार्पण किया, इससे हम धन्य हो गये, कृतार्थ हो गये; वैष्णवोंका दर्शन निश्चय ही श्रीहरिके दर्शनके समान दुर्लभ है। निश्चय ही हमने मेरु और मन्दराचलके तुल्य पुण्य राशि संचय की थी, जिसके फलस्वरूप आज हमें वैष्णव महात्माओंके दर्शन प्राप्त हुए।'

'जो मनुष्य अचानक भगवद्भक्तको आता हुआ देखकर उसके सामने नहीं जाता, भगवान् उसकी द्वादश वर्षकी पूजा ग्रहण नहीं करते।'

बृहन्नारदीय पुराणमें आया है—

हरिभक्तिरतान् यस्तु हरिबुद्ध्या प्रपूजयेत्।
तस्य तुष्यन्ति विप्रेन्द्रा ब्रह्माविष्णुशिवादयः॥

'हे ब्राह्मणो! हरिभक्तिमें रत रहनेवाले वैष्णवोंकी हरि-तुल्य समझकर जो पूजा करता है, उसपर ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सभी देवता संतुष्ट होते हैं।'

## वैष्णव-निन्दाका त्याग

निन्दां कुर्वन्ति ये मूढा वैष्णवानां महात्मनाम्।
पतन्ति पितृभिः सार्द्धं महारौरवसंज्ञिते॥

(स्कन्दपुराण)

'जो मूढ़ नर महात्मा विष्णुभक्तोंकी निन्दा करते हैं, वे अपने पितरोंके साथ महारौरव नरकमें गिरते हैं।' अतएव वैष्णवोंकी निन्दा भूलकर भी न करे। द्वारका-माहात्म्यमें लिखा है कि वैष्णवका अपमान करनेपर भगवान् सौ जन्मों-तक पूजित होनेपर भी प्रसन्न नहीं होते।

## वैष्णवापराध

स्कन्दपुराणमें आता है—

हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान्नाभिनन्दति।
क्रुध्यते याति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट्॥

'जो मनुष्य वैष्णवको मारता है, उसकी निन्दा करता है, उससे द्वेष करता है, वैष्णवको देखकर उसका अभिनन्दन नहीं करता, वैष्णवके प्रति क्रोध करता है तथा वैष्णवको देखकर आनन्दित नहीं होता—ये छः प्रकारके वैष्णवापराध करनेवाला व्यक्ति नरकमें जाता है।' वैष्णवको तनिक भी कष्ट देनेसे अथवा उसका अनिष्ट करनेकी चेष्टा करनेसे ही वैष्णवापराध होता है। वैष्णवके श्रीचरणोंमें शरणापन्न होकर क्षमा-प्रार्थना करनेसे ही वैष्णवापराध शमन हो सकता है।

## वैष्णव कौन हैं ?

प्रशान्तचित्ताः सर्वेषां सौम्याः कामजितेन्द्रियाः ।
कर्मणा मनसा वाचा परद्रोहमनिच्छवः ॥
दयार्द्रमनसो नित्यं स्तेयहिंसापराङ्मुखाः ।
गुणेषु परकार्येषु पक्षपातसमन्विताः ॥
सदाचारावदाताश्च परोत्सवनिजोत्सवाः ॥
पश्यन्तः सर्वभूतस्थं वासुदेवममत्सराः ।
दीनानुकम्पिनो नित्यं भृशं परहितैषिणः ॥
राजोपचारः पूजायां लालना सुकुमारवत् ।

× × × × ×

विषयेष्वविवेकानां या प्रीतिरुपजायते ।
वितन्वते तु हि तां प्रीतिं शतकोटिगुणां हरौ ॥
नित्यकर्तव्यताबुद्ध्या यजन्तः शंकरादिकान् ।
विष्णुस्वरूपान् ध्यायन्ति भक्त्या पितृगणेष्वपि ॥
विष्णोरन्यन्न पश्यन्ति विष्णुं नान्यत् पृथग्गतम् ।
पार्थक्यं न च पार्थक्यं समष्टिव्यष्टिरूपिणः ॥
जगन्नाथ तवास्मीति दासत्वं चास्मि नो पृथक् ।
सेव्यसेवकभावो हि भेदो नाथ प्रवर्तते ॥
अन्तर्यामी यदा देव सर्वेषां त्वं हृदि स्थितः ।
सेव्यो वा सेवको वापि त्वत्तो नान्योऽस्ति कश्चन ॥
इति भावनया कृतावधानाः प्रणमन्तः सततं च कीर्तयन्तः ।
हरिमब्जजवन्द्यपादपद्मं प्रभजन्तस्तृणवज्जगज्जनेषु ॥
उपकृतिकुशला जगत्स्वजस्रं परकुशलानि निजानि मन्यमानाः ।
अपि परपरिभावने दयार्द्राः शिवमनसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥
दृषदि परधने च लोष्टखण्डे परवनितासु च कूटशाल्मलीषु ।
सखिरिपुसहजेषु बन्धुवर्गे सममतयः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥
गुणगणसुमुखाः परस्य मर्मच्छदनपराः परिणामसौख्यदा हि ।
भगवति सततमदत्तचित्ताः प्रियवचसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥
स्फुटमधुरपदं हि कंसहन्तुः कलुषमुषं शुभनाम चामनन्तः ।
जयजयपरिघोषणां रटन्तः किमुविभवाः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥
हरिचरणसरोजयुग्मचित्ता जडिमधियः सुखदुःखसाम्यरूपाः ।
अपचितिचतुरा हरौ निजात्मव्रतवचसः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः ॥
रथचरणगदाब्जशङ्खमुद्राकृतितिलकाञ्चितबाहुमूलमध्याः ।
मुररिपुचरणप्रणामधूलीधृतकवचाः खलु वैष्णवा जयन्ति ॥
मुरजिदुपवनापकृष्टगन्धोत्तमतुलसीदलमाल्यचन्दनैर्यें ।
वरयितुमिव मुक्तिमात्तभूषाः कृतिरुचिराः खलु वैष्णवा जयन्ति ॥
विगलितमदमानशुद्धचित्ताः प्रसभविनश्यदहंकृतिप्रशान्ताः ।
नरहरिममराखबन्धुमिष्ट्वा क्षयितशुचः खलु वैष्णवा जयन्ति ॥

( स्कन्दपुराण )

"वैष्णवोंका चित्त अत्यन्त शान्त रहता है। वे सबके प्रति कोमल भाव रखते हैं, स्वेच्छानुसार अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये रहते हैं तथा मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी दूसरोंसे द्रोह करनेकी इच्छा नहीं रखते। उनका चित्त दयासे द्रवीभूत रहता है, चोरी और हिंसासे वे सदा ही मुख मोड़े रहते हैं तथा सद्गुणोंके संग्रह एवं दूसरोंके कार्यसाधनमें प्रसन्नतापूर्वक संलग्न रहते हैं। सदाचारसे उनका जीवन सदा उज्ज्वल ( निष्कलङ्क ) बना रहता है, दूसरोंके उत्सवको वे अपना ही उत्सव मानते हैं, सभी प्राणियोंके भीतर भगवान् वासुदेवको विराजमान देखकर कभी किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते। दीनोंपर दया करना उनका स्वभाव होता है। वे सदा परहितसाधनकी प्रबल इच्छा रखते हैं। भगवान्की पूजा वे राजोचित उपचारोंसे ( बड़े ठाट-बाटसे, विपुल धन व्यय करके ) करते हैं और सेवा उनकी उन्हें अत्यन्त सुकुमार समझकर बड़े लाड़-प्यारसे करते हैं।'.....'अविवेकी मनुष्योंका विषयोंमें जैसा प्रेम होता है, उससे अरबगुनी अधिक प्रीतिका विस्तार वे भगवान् श्रीहरिके प्रति करते हैं। नित्य कर्तव्यबुद्धिसे वे शंकर आदि देवताओंका पूजन करते हैं, पितरोंमें भी भक्तिपूर्वक भगवान् विष्णुकी ही बुद्धि रखते हैं, भगवान् विष्णुसे भिन्न दूसरी किसी वस्तुको नहीं देखते, न भगवान्को ही जगत्से पृथक् समझते हैं। समष्टिरूपमें उनका जगत्से पार्थक्य नहीं है। व्यष्टिरूपसे पार्थक्य है। 'हे भगवान् जगन्नाथ ! मैं आपका दास हूँ, आपके स्वरूपमें भी मैं हूँ, आपसे पृथक् कदापि नहीं हूँ। जब आप भगवान् विष्णु अन्तर्यामीरूपसे सबके हृदयमें विराजमान हैं, तब सेव्य अथवा सेवक—कोई भी आपसे भिन्न नहीं है।' इस भावनासे सदा सावधान रहकर जो ब्रह्माजीके द्वारा वन्दनीय युगलचरणारविन्दोंवाले श्रीहरिको सदा प्रणाम करते,

उनके नामोंका कीर्तन करते, उन्हींके भजनमें तत्पर रहते और संसारके लोगोंके समीप अपनेको तृणके समान तुच्छ मानकर विनयपूर्ण बर्ताव करते हैं, जगत्‌के जीवोंका उपकार करनेमें जो कुशलताका परिचय देते हैं, दूसरोंके कुशल-क्षेमको अपना ही कुशल-क्षेम मानते हैं, दूसरोंका तिरस्कार देखकर उनके प्रति दयासे द्रवीभूत हो जाते हैं तथा सबके प्रति मनमें कल्याणकी भावना करते हैं, वे ही वैष्णव ( विष्णुभक्त ) के नामसे प्रसिद्ध हैं। जो पत्थर, परधन और मिट्टीके ढेलेमें, परायी स्त्री और कूटशाल्मली नामक नरकके काँटेदार वृक्षोंमें, मित्र, शत्रु, भाई तथा बन्धुवर्गमें समान बुद्धि रखनेवाले हैं, वे ही निश्चितरूपसे विष्णुभक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो दूसरोंकी गुणराशिसे प्रसन्न होते और पराये मर्मको ढकनेका प्रयत्न करते हैं, परिणाममें सबको सुख देते हैं, भगवान्‌में सदा मन लगाये रहते तथा सदा प्रिय वचन बोलते हैं, वे ही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो कंसारि भगवान्‌के पापहारी शुभ नाम-सम्बन्धी मधुर पदोंका जप करते और जय-जयकी घोषणाके साथ भगवन्नामोंका कीर्तन करते हैं, वे अकिंचन महात्मा वैष्णवके रूपमें प्रसिद्ध हैं। जिनका चित्त श्रीहरिके चरणारविन्दोंमें निरन्तर लगा रहता है, जो प्रेमाधिक्यके कारण जड-बुद्धि-सदृश बने रहते हैं, सुख और दुःख दोनों ही जिनके लिये समान हैं, अपने आत्मस्वरूप भगवान्‌की पूजामें जो निपुण हैं तथा सबके प्रति विनययुक्त वाणीका प्रयोग करते हैं, वे ही वैष्णवके नामसे प्रसिद्ध हैं।

जो अपनी भुजाओंके मूल और मध्यमें चक्र-गदा-पद्म-शङ्ख आदिकी आकृतियोंके तिलक धारण करते और मधुसूदन भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम करते हुए उनकी रजका ही कवच धारण करते हैं, वे वैष्णव सबके शिरोमणि हैं। जो ( जगत्‌की ममतासे ) मुक्त होनेके लिये ही मानो भगवान् मुरारिके श्रीअङ्गोंसे सम्पर्कित सुगन्ध, तुलसीदल, माला, चरण आदिसे जो अपने अङ्गोंको विभूषित करते हैं और भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करते हैं, वे वैष्णव ही वास्तवमें सबके सिरमौर हैं। मद और अभिमान गल जानेके कारण जिनका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो गया है, अहंकारका सर्वथा नाश हो जानेके कारण जो अत्यधिक शान्त हो गये हैं तथा देवताओंके विश्वसनीय बन्धु भगवान् नृसिंहका भजन करके जो शोकरहित हो गये हैं, ऐसे वैष्णव निश्चय ही सबसे बढ़कर हैं।

## कौन वैष्णव नहीं है ?

परंतु—

शुभचरितमपि द्विषन्ति दुंसां
स्वयमिह दुश्चरितानुबन्धचित्ताः।
महदकुशलमप्यवाप्य सुस्था
भगवदन्यरसिका अवैष्णवास्ते॥
परमसुखमयं हृदम्बुजस्थं
क्षणमपि नानुसजन्ति मत्तचित्ताः।
वितथवचनजालकैरजस्रं
पिदधति नाम हरेरवैष्णवास्ते॥
परयुवतिधनेषु नित्यलुब्धाः
कृपणधियो निजकुक्षिपूरणोत्काः।
नियतिपरभयार्दि मन्यमानाः
नरपशवः खलु विष्णुभक्तिहीनाः॥
अनवरतमनार्यसङ्गसक्ताः
परपरिभावकहिंसकातिरौद्राः।
नरहरिचरणस्मृतौ विरक्ता
नरमलिनाः खलु दूरतो हि वर्ज्याः॥
( स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड )

'जो मनुष्योंके शुभ आचरणोंसे भी द्वेष करते हैं और स्वयं अपने चित्तको दुराचारमें ही बाँधे रखते हैं, अत्यन्त अशुभ स्थितिको पाकर भी ( जडतावश ) निश्चिन्त रहते हैं और भगवद्भिन्न विषयोंके रसमें ही सुखका अनुभव करते हैं, वे मनुष्य वैष्णव नहीं हैं, वे तो बहुत ही निम्न श्रेणीके मनुष्य हैं। अपने हृदयरूपी कमलमें विराजमान परमानन्दमय श्रीहरिके स्वरूपका जो क्षणभर भी चिन्तन नहीं करते, उन्मत्तभावसे रहते हैं और अपने झूठे वचनोंके जालसे भगवान्‌के नामको भी निरन्तर आच्छादित किये रहते हैं, वे भी वैष्णव नहीं हैं। जिनके मनमें परायी स्त्री और पराये धनके लिये सदा लोभ बना रहता है, जो कृपण बुद्धिवाले हैं और जो सदा अपना ही पेट भरनेमें लगे रहते हैं, जो नियतिके भरोसे तथा पराये भयसे पीड़ित बने रहकर कालक्षेप करते हैं, वे नरपशु विष्णुभक्तिसे सर्वथा रहित हैं—वैष्णव नहीं हैं। जो निरन्तर दुष्ट पुरुषोंके साथ अनुराग रखते हैं, दूसरोंका तिरस्कार और हिंसा करते रहते हैं, जिनका स्वभाव अत्यन्त क्रूर है तथा जो भगवान् नृसिंहके चरणोंके चिन्तनसे विरक्त रहते हैं, उन मलिन मनुष्योंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये।'

## कार्तिक-व्रत

श्रीस्कन्दपुराणमें आया है—

कार्तिकः खलु वै मासः सर्वमासेषु चोत्तमः।
पुण्यानां परमं पुण्यं पावनानां च पावनम्॥

द्वादशस्वपि मासेषु कार्तिकः कृष्णवल्लभः ।
तस्मिन् सम्पूजितो विष्णुरल्पकैरप्युपायनैः ॥
ददाति वैष्णवं लोकमित्येवं निश्चितं मया ॥

अर्थात् कार्तिक मास सब महीनोंमें श्रेष्ठ है, सभी पुण्य-कालोंमें परम पुण्य तथा सभी पवित्र वस्तुओंमें परम पवित्र है। बारहों मासोंमें कार्तिकका महीना विष्णुको अति प्रिय है। इस महीनेमें अत्यल्प उपचारोंके द्वारा भी पूजित होनेपर वे विष्णुलोक प्रदान करते हैं, यह मेरा निश्चय है।

कार्तिकेऽस्मिन् विशेषेण नित्यं कुर्वीत ब्राह्मणः ।
दामोदरार्चनं प्रातःस्नानदानव्रतादिकम् ॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

'वैष्णवको इस कार्तिकके महीनेमें विशेषरूपसे नित्य भगवान् दामोदरकी अर्चना, प्रातःस्नान, व्रत, दान आदिका अनुष्ठान करना चाहिये।'

दिनं च कृष्णकथया वैष्णवानां च संगमैः ।
नीयतां कार्तिके मासि संकल्पव्रतपालनम् ॥
आश्विने शुक्लपक्षस्य प्रारम्भो हरिवासरे ।
अथवा पौर्णमासीतः संक्रान्तौ वा तुलागमे ॥
दीपदानमखण्डं च दद्याद् वै विष्णुसंनिधौ ।
देवालये तुलस्यां वा आकाशे वा तदुत्तमम् ॥
(पद्मपुराण)

'कार्तिकके महीनेमें संकल्पानुसार व्रतका पालन करते हुए श्रीकृष्णकी कथा तथा वैष्णवोंके सत्सङ्गमें दिन व्यतीत करे। यह व्रत आश्विनमासकी शुक्ला एकादशी अथवा पूर्णिमा या तुला-संक्रान्तिके दिनसे प्रारम्भ करे। महीनेभर श्रीविष्णुकी मूर्तिके सामने देवालयमें, तुलसीके समीप अथवा आकाशमें अखण्ड दीप दान करे।' तथा—

नित्यं जागरणायान्त्ये यामे रात्रेः समुत्थितः ।
शुचिर्भूत्वा प्रबोध्याथ स्तोत्रैर्नीराजयेत्प्रभुम् ॥
मौनेन भोजनं कार्यं कार्तिके व्रतधारिणा ।
घृतेन दीपदानं स्यात् तिलतैलेन वा पुनः ॥
(पद्मपुराण)

'भगवान्को जगानेके लिये नित्य रात्रिके अन्तिम पहरमें जागकर पवित्र होकर भगवान्को जगाकर स्तोत्रोंके द्वारा मङ्गल-आरती करे। कार्तिकमें व्रत करनेवालेको मौन होकर भोजन करना चाहिये। दीपदान घृतसे अथवा तिलके तैलसे करना चाहिये। श्रीभगवान्का वचन है—

यत्किंचित् क्रियते पुण्यं विष्णुमुद्दिश्य कार्तिके ।
तदक्षयं भवेत्सर्वं सत्योक्तं तव नारद ॥
(स्कन्दपुराण)

'हे नारद! तुमसे मैं सत्य कहता हूँ कि कार्तिकके महीनेमें भगवान् विष्णुके उद्देश्यसे जो कुछ पुण्य किया जाता है, वह सब अक्षय हो जाता है।' इसी प्रकार मार्गशीर्ष और वैशाखमास तथा पुरुषोत्तममासका भी बड़ा माहात्म्य है, उन महीनोंमें भी शास्त्रानुसार क्रियाके द्वारा भगवान्का अर्चन करना चाहिये। (क्रमशः)

## चंदके छल-छंद

ओज करि आपनो तुषार पृथिवी पै रोज
रोजह्नु सरोजन के ओज हरिबो करै।
वारिनिधि बसि कै कपाली सीस लसि कै
प्रदच्छिना सुभेस आस पास भरिबो करै॥
छोटौ छोटौ ह्वै कै फेरि सोड़स कला सौं बढ़ै
नीके बुंद अमल अमी के झरिबो करै।
वृंदावन चंद नखचंद समता के हेतु
चंद यह मंद कोटि छंद करिबो करै॥

# भक्तिमें सर्वधर्मत्याग

( लेखक—श्रीहरिपद विद्यारत्न, एम्० ए०, बी० एल्० )

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥*
( श्रीमद्भा० २ । ४ । १८ )

श्रीशुकदेवजीने अपनी श्रीमद्भागवतकथाके आरम्भमें मङ्गलाचरणके जो श्लोक कहे हैं, उन्हींमेंसे एक यह भी है। उन्हींके पदचिह्नोंपर चलते हुए हम भी उन परमात्माको नमस्कार करते हैं, जिनके भक्तोंकी शरण ग्रहण करके किरातादि समस्त निम्नजातियोंके प्राणी तथा पापात्मा व्यक्ति भी शुद्ध हो जाते हैं। भगवद्भक्तोंकी कृपाके अतिरिक्त मनुष्योंके लिये अपार संसारसागरको पार करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतः अन्य सारी चेष्टाओंको छोड़कर बस, उन्हींके चरणोंमें अपनेको अर्पित कर देना चाहिये।

हमारे सांसारिक जीवनके वास्तविक ध्येयको प्राप्त करानेवाला धर्म बस, एक ही है, जिसका उल्लेख श्रीमद्भागवतके दूसरे श्लोकमें हुआ है—

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥
( श्रीमद्भा० १ । १ । २ )

'इस श्रीमद्भागवतमें मत्सरहीन सत्पुरुषोंके निष्कपट अर्थात् फलाभिसंधिसे रहित केवल ईश्वराराधनरूप परम धर्मका तथा मायासे उत्पन्न तापत्रय—( १ ) अपने शाश्वत धर्मका अज्ञान, ( २ ) भगवद्विमुखता और ( ३ ) शरीर एवं मनके प्रति अहंबुद्धि—को निवृत्त करनेवाली कल्याणकारिणी एवं जाननेयोग्य उस वास्तविक वस्तु, परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णका निरूपण किया गया है। जो इसका श्रवण करनेकी इच्छा करते हैं, उन भाग्यवान् पुरुषोंके हृदयमें आकर स्वयं भगवान् तुरंत ही बंदी हो जाते हैं।' इसके लिये दूसरे साधनोंकी क्या आवश्यकता है? हम देखते हैं कि श्रीमद्भागवतके अन्तिम पाँच श्लोकोंके पूर्ववाले श्लोकमें कहा गया है कि इस भागवतपुराणमें उस विशुद्ध परम ज्ञानका वर्णन किया गया है, जो परमहंसोंको प्राप्त होने योग्य है तथा जिसमें ( ईश्वर एवं जगत्के सम्बन्धविषयक ) ज्ञान, वैराग्य ( भगवान्की नित्यसेवाके विरोधी सभी तत्त्वोंके प्रति अनासक्ति ) और भक्तिके सहित नैष्कर्म्य ( अपने लिये किसी चेष्टाका अभाव ) का निरूपण किया गया है। इसका भक्तिभावसे श्रवण, पाठ और साधुओंके साथ विवेचन करनेवाला पुरुष मोक्षपद प्राप्त कर लेता है। इससे कुछ ही पूर्व श्रीमद्भागवतको सम्पूर्ण वेदान्तोंका सार बताया गया है; जो पुरुष उसके रसामृतसे छका हुआ है, उसकी कहीं अन्यत्र प्रीति नहीं हो सकती।

यह भक्तिरस ऐसा ही है। भगवान्के परम भक्त बिना किसी अन्य वस्तुकी चिन्ता किये इसके अतल तलमें डूबे रहना चाहते हैं। सामाजिक जीवनसे सम्बन्धित लोग पितृ-भक्ति, मातृभक्ति, स्वामिभक्ति, गुरुभक्ति, देवभक्ति आदि पदोंमें भक्तिका जिस अर्थमें व्यवहार करते हैं, उससे यह भक्ति नितान्त भिन्न है। उपर्युक्त भक्तियाँ तो सामाजिक गुण हैं। इनका आचरण हम उनके प्रति करते हैं, जिनके द्वारा हमारा शरीर एवं मन उपकृत होता है और इस नाते हम उनके सहज ही कृतज्ञ होते हैं; किंतु एकनिष्ठ भगवद्भक्तोंकी दृष्टिमें इन उपकारोंका कोई अर्थ नहीं है। उनके लिये शरीर एवं मनके प्रति किये हुए उपकारका कोई मूल्य नहीं होता। परंतु हरिसेवाके प्रति पराङ्मुखतारूप वास्तविक मृत्युसे पिण्ड छुड़ानेवाली निष्काम भक्तिका रास्ता दिखलानेवाले साधुजनोंके प्रति उनके मनमें महान् कृतज्ञता रहती है। इसका उदाहरण हमें सर्वश्रेष्ठ हरिभक्त श्रीनारदके चरित्रमें मिलता है, जिन्होंने अपने पूर्वजन्ममें सर्पदंशसे माताकी मृत्यु हो जानेको अशुभ नहीं माना वरं इसे एक प्रकारसे अपनी बन्धनमुक्ति तथा भगवान्की अनुकम्पा माना ( श्रीमद्भा० १ । ६ । १० )।

भगवदावेशावतार श्रीऋषभदेवजी लोगोंको शिक्षा देनेके लिये अपने संयमी पुत्रोंसे इस प्रकार कहते हैं—

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।

---

* किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि नीच जातियोंके मनुष्य तथा और भी पापी लोग जिनके शरणागत भक्तोंकी शरण ग्रहण करनेसे पवित्र हो जाते हैं, उन पुण्यकीर्ति भगवान्को बारंबार नमस्कार है।

दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद् यः समुपेतमृत्युम् ॥
( श्रीमद्भा० ५ । ५ । १८ )

'जिसकी सहायतासे मनुष्य सिरपर आयी हुई मृत्यु अर्थात् जन्म-मृत्युके चक्रसे अपनी रक्षा न कर सके, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है ।' निम्नलिखित उदाहरणोंसे इस शिक्षाकी मान्यता अनिवार्य हो जायगी । दैत्यराज बलिने अपने कुलगुरु श्रीशुक्राचार्यकी आज्ञा नहीं मानी, जिन्होंने उसे भगवान् वामनको अपना सर्वस्व समर्पित करनेसे रोकते हुए कहा था—

सर्वस्वं विष्णवे दत्त्वा मूढ वर्तिष्यसे कथम् ।

'रे मूढ ! विष्णुको अपना सर्वस्व देकर तू किस प्रकार जीवन-यापन कर सकेगा ?' भक्त विभीषण अपने अग्रज रावणको त्यागकर भगवान् श्रीरामकी सेवामें चले गये । यद्यपि मृत्यु उनके सामने मुँह बाये खड़ी थी, फिर भी भक्त-चूडामणि प्रह्लादने अपने पिताकी इच्छा ठुकरा दी, जो यह चाहता था कि वह भगवान् विष्णुकी भक्ति करना छोड़ दे । भगवान् श्रीरामको अपने अधिकारसे वञ्चित करके तथा अयोध्याके राजसिंहासनपर स्वयं आसीन होकर अपनी माँ कैकेयीको संतुष्ट करना भरतलालने स्वीकार नहीं किया ।* भगवान् श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये गोपराज नन्द तथा अन्य गोपोंने देवराज इन्द्रकी अवहेलना करके बदलेमें गिरिराज गोवर्द्धनकी पूजा की । वृन्दावनकी विप्रपत्नियोंने अपने पतियोंके यज्ञमें नैवेद्यके रूपमें व्यवहृत होनेवाले अन्नसे उन पतियोंकी आज्ञाके विरुद्ध भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् बलराम तथा उनके गोपबाल-सखाओंको अपने जीवनपर खेलकर प्रसन्न किया तथा अर्वाचीन इतिहासमें भी मीराँबाईने अपने देवर महाराणाकी इच्छा तथा उन्हें अन्तःपुरमें बंद रखनेकी चेष्टाका विरोध करके गिरधरलालको रिझानेके लिये घर-बार त्यागकर वृन्दावनका रास्ता लिया । भगवान्की सच्ची भक्तिके निमित्त इन सभीने सामाजिक दृष्टिसे अपने गुरुजनोंके प्रति अपने नैतिक उत्तरदायित्वको तिलाञ्जलि दे दी; पर क्या इस कारण इन भक्तोंके आचरणको किसी विवेकी व्यक्तिने आजतक कभी निन्दाके योग्य ठहराया है ? इसका उत्तर सब कोई एक स्वरसे यही देंगे—'नहीं, कदापि नहीं ।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे माता-पिता तथा सम्बन्धी चाहे स्वर्गसे भी अधिक गौरव-सम्पन्न होनेका दावा करें क्योंकि कहा है—

'पिता स्वर्गः'; 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।'

किंतु व्यवहारमूलक सामाजिक शिष्टाचारके अतिरिक्त हमारी गम्भीर श्रद्धाके अधिकारी नहीं हो सकते यदि उनमें भगवान्की अटल और अनन्य भक्ति नहीं है और इस सद्गुणके न होनेके कारण वे हमें भगवद्भक्तिरूपी जीवनके चरम कल्याणकी प्राप्ति नहीं करा सकते । यदि वे सच्चे अनन्य भक्त बन जायँ तो हम भी उनकी वास्तविक भक्ति करेंगे; क्योंकि भक्तोंकी भक्ति ही हमें जगत्के प्रपञ्चसे हटाकर भगवत्प्रेमके राज्यमें ले जा सकती है । भगवद्भक्तोंका सङ्ग ही बिना किसी अन्य धर्मका पल्ला पकड़े हमें सब प्रकारके पापोंसे सदाके लिये मुक्त कर सकता है । और इस प्रकार जो हमें भगवद्भक्तिमें लगाते हैं, भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कराते हैं, वे ही हमारे परमपूज्य, परम आत्मीय हैं ।* बृहन्नारदीयपुराणके यज्ञमाली-उपाख्यानमें यहाँतक कहा गया है—

हरिभक्तिपराणां हि सङ्गिनां सङ्गमाश्रितः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महापातकवानपि ॥

'हरिभक्तिपरायण पुरुषोंका सङ्ग करनेवालोंका सङ्ग करके महापातकी भी समस्त पापोंसे छुटकारा पा जाता है ।' यक्षपति कुबेरके दोनों पुत्रोंको वृक्षयोनिसे मुक्त करके भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा कि 'भगवद्भक्त साधु पुरुषोंके दर्शनमात्रसे मनुष्य मायासे उसी प्रकार छूट जाता है, जैसे सूर्योदय होनेपर आँखोंके आगेसे अन्धकार भाग जाता है । हरिभक्ति सुधोदयके वचन हैं कि बिना भक्तपूजाके कोई भी भक्ति नहीं पा सकता—

अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्चयन्ति ये ।
न ते विष्णुप्रसादस्य भाजनं दाम्भिका जनाः ॥

'जो भगवान् गोविन्दकी तो पूजा करते हैं, परंतु उनके

* गोस्वामी तुलसीदासजीने गाया है—
जाके प्रिय न राम बैदेही ।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥
पिता तज्यो प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज बनितनि, भए मुद मंगलकारी ॥

* तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो ।
जासों होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो ॥

भक्तोंकी पूजा नहीं करते, वे दम्भी पुरुष विष्णुकी कृपाके पात्र नहीं होते।'

पद्मपुराणमें भी आया है—

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।
तस्मात्परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥

श्रीशिवजी भगवती श्रीउमादेवीसे कहते हैं—'सब पूजाओंसे बढ़कर विष्णुकी पूजा है और उससे भी श्रेष्ठ है भक्तोंकी पूजा।'*

आदिपुराणमें कहा है—

ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्तास्तु ते जनाः।
मद्भक्तानां च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः॥

भगवान् कहते हैं कि 'मेरे भक्तोंकी भक्ति किये बिना कोई भी मेरा भक्त नहीं बन सकता।' भक्त बननेकी इच्छा रखनेवाले व्यक्तियोंको कोई और तप करनेकी आवश्यकता नहीं है। उनकी भक्ति ही उनकी सुदृढ़तम संरक्षिका है, जिसे प्राप्त करनेके लिये उन्हें पहले परिपक्व सच्चे भक्तोंकी शरण लेनी पड़ेगी।

भगवान् विष्णुके भक्त पापोंका दण्ड देनेवाले यमराजके अधिकार-क्षेत्रसे बाहर रहते हैं। पद्मपुराणमें माघमाहात्म्यके अन्तर्गत दूत कहते हैं—

महात्मान् यमुनाभ्राता सादरं हि पुनः पुनः।
भवद्भिर्वैष्णवस्त्याज्यो विष्णुं चेद् भजते नरः॥

'यमराजने हमसे बार-बार सम्मानपूर्वक कहा है कि विष्णुका भजन करनेवाले वैष्णवोंसे हमें अलग रहना चाहिये।' अजामिलोपाख्यान (श्रीमद्भा० ६ । ३ । २५-२९) में भी यमराजने स्वयं अपने दूतोंसे कहा है—'विद्वान् कर्ममीमांसकोंकी गणना महाजनोंकी श्रेणीमें नहीं हैं; क्योंकि उनकी मायासे मोहित हुई बुद्धि वैदिक कर्मोंके रमणीय वचनोंसे जडताको प्राप्त हो जाती है। अतएव वे बड़े-बड़े यज्ञ-यागादि कर्मोंमें ही लगे रहते हैं तथा भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता और महिमाको नहीं समझ पाते।

'यों विचारकर बुद्धिमान् पुरुष दत्तचित्त होकर भगवान् अनन्तकी ही भक्तिमें लगे रहते हैं। अतएव उनसे कभी कोई पाप भी बन गया हो तो भी वे हमसे दण्डित होनेयोग्य नहीं हैं। श्रीहरि अपनी गदासे उनकी रक्षा किया करते हैं। जो श्रीकृष्णके भक्त नहीं हैं, केवल उन्हींको दण्ड देनेके लिये लाया करो।'

स्कन्दपुराणके रेवाखण्डमें ब्रह्मा श्रीभगवान्से कहते हैं—

स कर्ता सर्वधर्माणां भक्तो यस्तव केशव।
... ... ...
निःशेषधर्मकर्ता वाप्यभक्तो नरके हरे।
सदा तिष्ठति भक्तास्ते ब्रह्महापि विमुच्यते॥

'हे केशव! हे हरि! जो तुम्हारा भक्त है, उसके द्वारा सभी धर्मोंका आचरण हो जाता है। किंतु सब धर्मोंका आचरण करके भी जो तुम्हारा भक्त नहीं बना है, वह नरकमें वास करता है। परंतु तुम्हारा भक्त ब्रह्महत्यारा होनेपर भी छूट जाता है।'

जीवोंका अपना स्वरूप है भगवान्का नित्य सेवक होना। इसलिये हम देखते हैं कि न तो इस पदपर पुनरासीन होनेके लिये न सांसारिक बन्धनोंसे मुक्ति पानेके लिये और न यदि कभी उनसे पाप बन गया है तो उसके परिणामसे छूटनेके लिये ही भक्तोंको किसी अन्य धर्मका आचरण करना पड़ता है।

भक्तगण सिद्धियोंकी भी किंचित् परवा नहीं करते, यद्यपि सिद्धियाँ उनकी सेवामें उपस्थित रहती हैं। वे अपनी भक्ति-साधनामें इनको विघ्नस्वरूप मानते हैं।

(श्रीमद्भा० ११ । १५ । ३२-३३)

जब देवताओंको वृत्रासुर बुरी तरह पराजित कर रहा था, तब वे आदिपुरुषकी शरणमें गये और अपनी रक्षाके लिये प्रार्थना करते समय अन्य बातोंके साथ उन्होंने यह भी कहा कि 'केवल मूर्ख ही आपको छोड़कर दूसरेकी सहायताका भरोसा करते हैं। वे कुत्तेकी पूँछ पकड़कर समुद्र पार करनेकी इच्छा करनेवालोंके समान हैं। (श्रीमद्भा० ६ । ९ । २२) पद्मपुराणमें भी इसीकी प्रतिध्वनि सुनायी पड़ती है—

यथा धृत्वा शुनः पुच्छं तर्तुमिच्छेत्सरित्पतिम्।
तथा त्यक्त्वा हरिं सेव्यमन्योपासनया भवम्॥

'कुत्तेकी पूँछ पकड़कर समुद्रको पार करनेकी इच्छाके समान ही सेवाके पात्र श्रीहरिको छोड़कर अन्यकी उपासनासे संसार-सागरको पार करनेकी इच्छा है।' भक्तगण इस बातको जानते हैं, अतएव अपने कल्याणके लिये वे दूसरे धर्मोंका आश्रय नहीं लेते। श्रीनारदजीके प्रचेताओंके प्रति उपदेशके

* श्रीरामचरितमानसमें भरद्वाजमुनिने भक्तदर्शनको भगवान्के दर्शनका फल बतलाया है—

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग हमारा॥

अनुसार ( श्रीमद्भा० ४ । ३१ । ९-१२ ) वे यह भी जानते हैं कि तपस्या, योगसाधना, सांख्यालोचन या कल्याणके अन्य साधनोंमें कोई गुण या लाभ नहीं है यदि उनमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रिय आत्मा श्रीहरिके चिन्तनका अभाव है । भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको सावधान किया है—

भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥
( श्रीमद्भा० ११ । १४ । २१-२२ )

'मेरी अनन्यभक्ति चाण्डालादिको भी उनके जातीय दोषसे छुड़ाकर पवित्र कर देती है । मेरी भक्तिसे हीन पुरुषको सत्य और दयासे युक्त धर्म अथवा तपसे युक्त विद्या भी पूर्णतया पवित्र नहीं कर सकती ।' इस प्रकार जीवोंके वास्तविक कल्याणके लिये भक्ति ही आवश्यक है, अन्य कोई धर्म नहीं ।

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः ॥

'करनेकी चीज है भगवान् विष्णुका निरन्तर स्मरण और न करनेकी चीज है उनका विस्मरण । अन्य सारे विधि-निषेध इन्हीं दोनोंके पीछे चलनेवाले किंकर हैं ।' हरि-सेवाके लिये अनुकूलभावसे युक्त स्मरणका ही नाम भक्ति है, जो उतनी ही पुष्ट होती जाती है जितना स्मरण प्रगाढ़ एवं दीर्घ होता है । इस दिशामें कोई अन्य धर्म हमारी सहायता नहीं कर सकता, अतएव भक्ति-कामीके लिये वह अनावश्यक है । इसलिये भक्त किसी ऐसे धर्मकी अपेक्षा नहीं रखता; क्योंकि वह उसको भगवान् श्रीकृष्णके प्रति सच्ची भक्तिके मार्गसे विचलित करनेवाला होता है । एकमात्र श्रीकृष्णकी सेवा ही उसे शुद्ध कर डालेगी और उसकी भक्तिको दृढ़तर बना देगी । श्रीनारदजी श्रीव्यासदेवको उपदेश देते हैं ( श्रीमद्भा० १ । ६ । ३६ ) कि बार-बार काम और लोभके वशीभूत होनेवाला चित्त श्रीमुकुन्द-चरणारविन्दके सेवनसे जैसी शान्ति लाभ करता है, वैसी यमादि योगाङ्गोंसे नहीं करता । श्रीभगवान्ने श्रीउद्धवके ब्याजसे हमलोगोंको बताया है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
( श्रीमद्भा० ११ । १४ । २० )

'हे उद्धव ! मेरी सुदृढ़ भक्ति मुझे जिस प्रकार प्राप्त करा सकती है, उस प्रकार तो न योग, न सांख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप और न दान ही करा सकता है ।' क्या यह इस बातके लिये पर्याप्त कारण नहीं है कि क्यों परम कल्याण-को चाहनेवाला भक्त इन साधनोंसे दूर रहता है । ये केवल व्यर्थ ही नहीं वरं विघ्नस्वरूप हैं । भगवदावेशावतार श्रीकपिलदेवजी कहते हैं ( श्रीमद्भा० ३ । २५ । ४४ )— 'तीव्र भक्तियोगके द्वारा मुझमें चित्त स्थिर करके मनुष्य परम कल्याणको प्राप्त कर सकता है ।'

इस प्रकार इस बातको दर्शानेवाले अनेक प्रमाण हैं कि केवल भक्तियोग ही हमारा परम कल्याण-सम्पादन करनेमें समर्थ है, जब कि अन्य साधनोंमें यह शक्ति नहीं है । गीतामें भी श्रीकृष्ण भक्ति-योगियोंकी सबसे अधिक प्रशंसा करते हैं ( ६ । ४७ ) । और क्या भगवान्के कृपापात्र वेदोंसे अनुमोदित होनेपर भी अन्य साधनोंकी अपेक्षा कर सकते हैं । जैसा कि श्रीनारदजीने प्राचीनबर्हि राजाको उपदेश दिया है—

यदायमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः ।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥
( श्रीमद्भा० ४ । २९ । ४६ )

'हृदयमें बार-बार चिन्तन किये जानेपर भगवान् जिस समय जिस जीवपर कृपा करते हैं, उसी समय वह लौकिक व्यवहार तथा वैदिक कर्म-मार्गकी बद्धमूल आस्थासे छूट जाता है ।'

श्रुति विभिन्न प्रकृतिके लोगोंके लिये विभिन्न पद्धतियोंका विधान करती है, अतः वे सब सभी प्रकारके मनुष्योंके लिये समानरूपसे उपयोगी नहीं होतीं । जो भक्त हैं अथवा भक्त जिनका पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं, उन्हें इन पद्धतियोंको न तो माननेकी आवश्यकता है और न मानना ही चाहिये; उन्हें तो केवल उन्हींको मानना चाहिये, जिनका सीधा सम्बन्ध शुद्ध भक्तिकी साधनासे हो । क्या भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे सब धर्मोंको त्यागकर केवल उन्हींकी शरणमें जानेके लिये स्पष्ट शब्दोंमें नहीं कहा है !—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
( गीता १८ । ६६ )

'यदि तुम डरते हो कि धर्मोंके त्यागसे पाप लगेगा तो मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि डरनेकी कोई बात नहीं, तुम्हारे सब पाप मैं धो डालूँगा, तुम चिन्ता न करो ।' हरि-स्मरणका समर्थन करनेवाले साधनोंको छोड़कर भक्तजन फिर दूसरे विधि-निषेधोंके फेरमें क्यों पड़ें ? भगवान् श्रीकृष्णने इसी प्रकार उद्धवको भी अपनी ऐकान्तिक भक्तिके लिये प्रोत्साहित किया है—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ११ । ३२)

'वेदोंमें मेरे द्वारा उपदेश किये गये अपने वर्णाश्रमादि धर्मोंके पालनमें गुण और त्यागमें दोष जानकर भी जो मेरे लिये उनकी उपेक्षा करके मुझे भजता है, वह साधुओंमें श्रेष्ठ है।' रक्षाके ऐसे प्रबल आश्वासनोंसे युक्त होनेपर कोई भक्त शास्त्रों एवं वेदोंद्वारा प्रतिपादित कर्तव्योंका भी त्याग करनेमें क्यों हिचकेगा ? जिसने भगवद्भक्तिका साधन आरम्भ किया है उसे भी, यदि वह सच्चा है तो, दूसरे प्रकारके धर्मोंको त्याग देना चाहिये; क्योंकि अन्यथा वह अपनी यात्रामें आगे नहीं बढ़ सकेगा। जब अर्जुनने भगवान्से पूछा (गीता ६ । ३७-३८) कि इस प्रकारके त्यागसे भक्तियोगके मार्गपर जिसने अभी पैर ही रखा है, ऐसा साधक क्या दोनों ओरसे घाटेमें नहीं रहेगा, तब श्रीभगवान् बोले—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥
(गीता ६ । ४०)

'ऐसे व्यक्तिको नितान्त पतनका कोई भय नहीं है।' इस सत्यकी व्याख्या श्रीनारदने श्रीव्याससे इस प्रकार की है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥
(श्रीमद्भा० १ । ५ । १७)

'जो पुरुष अपने वर्णाश्रम-धर्मोंको छोड़कर श्रीहरिके चरण-कमलोंका भजन करता है, वह यदि भजन सिद्ध होनेके पहले ही गिर जाय तो क्या उसका कहीं भी अमङ्गल हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। किंतु जो भगवान्का भजन न करके केवल स्वधर्मका पालन करते हैं, उन्हें कौन-सा लाभ मिलता है अर्थात् कोई लाभ नहीं मिलता।' पहली दशामें, भगवान्की कृपासे, जहाँ पहली साधना छूटी कि वहींसे फिर आरम्भ करके जीव क्रमशः उन्नतिकी ओर बढ़ता जा सकता है; किंतु दूसरी अवस्थामें यदि ऊँचे लोकोंकी प्राप्ति भी हो जाती है तो वह शाश्वत नहीं होती। गीतामें भी यही प्रतिज्ञा की गयी है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥
(६ । ४३)

'वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धिसंयोगको वह अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन ! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है।'

यहाँपर एक प्रश्न उठ सकता है कि विष्णुसंहिताके अनुसार प्रत्येक वर्णाश्रमीको छः ऋण चुकाने रहते हैं—

देवतापितृबन्धूनामृषिभूतनृणां तथा ।
ऋणी स्यात्तदधीनश्च वर्णादिजन्ममात्रतः ॥

जैसा गरुड़पुराणमें लिखा है कि उसे इन ऋणोंको इस प्रकार चुकाना चाहिये—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥

किंतु भक्त इन सब बन्धनोंसे मुक्त है। नौ योगीन्द्रोंमेंसे एक श्रीमत् करभाजनने राजा निमिकी सभामें कहा था।

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किंकरो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ५ । ४१)

"गीता (३ । २७) में जिसे 'कर्ताहम्' कहा गया है उस 'कर्तृत्व-अभिमान'को छोड़कर जो सम्पूर्ण रूपसे ब्रह्मा-इन्द्रादिके भी एकमात्र शरण्य भगवान् श्रीमुकुन्दकी शरणमें चला जाता है, वह देव, ऋषि, भूतगण, कुटुम्बीजन अथवा पितृगण—किसीका भी किंकर अथवा ऋणी नहीं रहता।" वसिष्ठसंहितामें भी वैष्णवोंके लिये इस प्रकारके आचरणका निषेध है—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं दानं संकल्पमेव च ।
दैवं कर्म तथा पैत्रं न कुर्याद् वैष्णवो गृही ॥*

स्कन्दपुराणका निर्देश है—

अर्चिते देवदेवेशे अब्जशङ्खगदाधरे ।
अर्चिताः पितरो देवा यतः सर्वमयो हरिः ॥

'शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् विष्णुकी अर्चना कर लेनेपर समस्त पितरों तथा देवताओंकी पूजा हो जाती है; क्योंकि भगवान् विष्णु सर्वदेवमय हैं।' बृहन्नारदीयपुराणका कथन है कि विशेषकर कलियुगमें केवल हरिभक्तोंकी ही परम कल्याणके लिये की गयी चेष्टा सफल होती है—

* वैष्णव गृहस्थके लिये नित्य, नैमित्तिक एवं सकाम कर्म, देवपूजा, पितृ-तर्पण, दान एवं संकल्प आदि करनेकी आवश्यकता नहीं है।

हरिनामपरा ये च हरिकीर्तनतत्पराः ।
हरिपूजापरा ये च ते कृतार्थाः कलौ युगे ॥*

कुछ लोग श्रुतिका हवाला दे सकते हैं कि—

ॐ कर्मफलाशः कर्मी यजेद्द्रव्यक्रव्यमयैः कामवान् सर्वांश्च देवान् पितॄनतिथींश्च ।†

किंतु उन्हें ध्यान रखना चाहिये कि यह आज्ञा कर्मफलाश कामवान् कर्मीके लिये है, भगवद्भक्तोंके लिये नहीं। इसके अतिरिक्त 'सर्वांश्च' शब्द तो उनके लिये भी भयावह है। अपने यज्ञके द्वारा उन्हें समस्त देवताओं, पितृगणों, पुरुषों और अतिथियोंको पूर्णरूपसे संतुष्ट करना चाहिये, उनमेंसे एक भी छूट न जाय। यदि कुछ संतुष्ट होते हैं और कुछ नहीं तो सब किया-कराया व्यर्थ हो जाता है। किंतु अच्युत भगवान् नारायणके भक्तोंके लिये दूसरा ही आदेश है। प्रचेताओंसे श्रीनारदजी कहते हैं—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ३१ । १४)

'जिस प्रकार वृक्षकी जड़को सींचनेसे उसका तना, शाखा, उपशाखा आदि सभी तृप्त हो जाते हैं तथा जैसे भोजनके द्वारा प्राणोंके तृप्त हो जानेसे सभी इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं, उसी प्रकार श्रीहरिका पूजन करनेसे देवता, पितृ पुरुष, इत्यादि सभीका पूजन हो जाता है। इस प्रकार भगवद्भक्तको देवतादिकी पृथक् पूजाके लिये चिन्ता नहीं करनी पड़ती।'

भक्तोंका मूल सिद्धान्त कि संसारके दुःखोंसे छूटनेके लिये भक्तिके अतिरिक्त मनुष्यके पास दूसरा उपाय नहीं है—श्रीउद्धवके इन वाक्योंमें मिलता है—

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे
संतप्यमानस्य भवाध्वनीश ।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १९ । ९)

'हे प्रभो! इस घोर संसार-मार्गमें तापत्रयसे पीड़ित होकर संताप करनेवाले व्यक्तिके लिये आपके अमृतवर्षी चरणयुगलरूप छत्रके अतिरिक्त मुझे कोई और आश्रय दिखलायी नहीं देता।'

हमें आशा है कि हमारे निष्पक्ष पाठकोंको इस बातका विश्वास हो गया होगा कि जीवके लिये परम कल्याणकी वस्तु निःश्रेयसके साधकके लिये—जिसकी साधना सबको करनी ही चाहिये—हरिभक्तोंके प्रति भक्तिके अतिरिक्त जिसमें स्वयं भगवान्‌के प्रति की गयी भक्ति भी समाविष्ट है, अन्य सभी प्रकारके धर्म सरासर निस्सार हैं।

श्रीविष्णुयामलसंहिताके निम्नलिखित शब्दोंमें भगवान् हरिको प्रणाम करते हुए हम अपने कथनको समाप्त करते हैं—

यत्पूजनेन विबुधाः पितरोऽर्चिताश्च
तुष्टा भवन्ति ऋषिभूतसलोकपालाः ।
सर्वे ग्रहास्तरणिसोमकुजादिमुख्या
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

'मैं उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दकी आराधना करता हूँ, जिनकी पूजासे देवताओं और पितरोंकी पूजा स्वतः हो जाती है तथा ऋषिगण, भूत एवं लोकपालगण, तथा सूर्य, चन्द्र, मंगल आदि समस्त ग्रह संतुष्ट हो जाते हैं।'

## काशीका मुक्ति-दान

एक दिएँ जहँ कोटिक होत हैं, सो कुरुखेत मैं जाय अन्हाइय ।
तीरथराज प्रयाग बड़े मन वांछित के फल पाय अघाइय ॥
श्रीमथुरा बसि 'केसवदासजू' द्वै भुज तें भुज चार ह्वै जाइय ।
कासीपुरी की कुरीति बुरी, जहँ देह दिएँ पुनि देह न पाइय ॥

* जो भगवन्नामपरायण, भगवत्कीर्तनमें तत्पर तथा हरि-पूजनपरायण हैं, वे ही पुरुष कलियुगमें कृतार्थ होते हैं।

† कर्मफलमें आस्था रखनेवाले सकामकर्मीको चाहिये कि वह समस्त देवताओं, पितरों एवं अतिथियोंकी पूजा-सत्कार करे।

# भगवान् महावीरके जीवनकी चार झाँकियाँ

( लेखक—मुनि श्रीसुशीलकुमारजी शास्त्री )

## भारतके दो महापुरुष

भगवान् महावीर और बुद्ध दोनों एशियाके आध्यात्मिक गगनके देदीप्यमान नक्षत्रके रूपमें भारतमें प्रादुर्भूत हुए थे। ये दोनों ही महापुरुष महान् अहिंसक और समन्वयवादी होते हुए भी अपनी-अपनी मौलिक विशेषताओंसे युक्त हैं। इनमें भी निवृत्ति-परम्परा, कठोर साधना और अहिंसाके सूक्ष्मतम विश्लेषणके कारण महावीरका अनुपम महत्त्व है और अपनी इन्हीं विशेषताओंके कारण समूचे विश्वके महानतम पुरुषोंमें वे अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। भगवान् महावीरके अनन्त ज्ञान और विशाल अनुभवसे लाभ उठानेके लिये हमें उनके मानवीय जीवनको जानना होगा। यद्यपि प्रत्येक महापुरुषका जीवन अनन्त होता है, उनके चैतन्य और साधनाकी अतल गहराई मापना असम्भव है, तो भी उनकी जीवनव्यापी महत्ताका एक मोटा-सा रेखाचित्र हम अवश्य खींच सकते हैं।

भगवान् महावीरके जीवनको चार भागोंमें विभाजित किया जा सकता है—

## १ गृहस्थ, २ साधक, ३ तीर्थङ्कर और ४ निर्वाण

**गृहस्थ-जीवन**—उनके जीवन-पुष्पका सौरभ पानेके लिये हमें उनके जन्म और बाल्यकालकी कोमल कलियोंकी एक झाँकी लेना भी समीचीन होगा।

**जन्मकाल**—भगवान् महावीरका जन्म ईसवी सन् ५८९ वर्ष पूर्व हुआ था। चैत्रमासकी शुक्ला त्रयोदशीकी मध्याह्नकी वेला थी, वासन्ती वायु बह रही थी। सम्पूर्ण दिशाएँ निर्मल हो रही थीं। ऐसे सुहावने समय कुण्डग्राम गणराज्यके अधिनायक महाराज सिद्धार्थके भव्य प्रासादमें महाराजकी प्रिय रानी त्रिशलाको इस महापुरुषको जन्म देनेका महान् सौभाग्य प्राप्त हुआ। महाराज सिद्धार्थके समय वज्जि, मल्ल, काशी, कोसल आदि कितने ही राज्य प्रजासत्ताक थे। इन राज्योंकी व्यवस्थाका मूलसूत्र प्रत्येक जातिके निर्वाचित नायकोंके हाथमें रहता था। ये गणराज्य कहलाते थे। वज्जि या लिच्छवि गणराज्य इन गणराज्योंमें सर्वाधिक शक्तिशाली था। इस राजसंघमें आठ क्षत्रिय कुलोंके प्रतिनिधि सम्मिलित थे, जो राजा कहलाते थे। वे आठ क्षत्रिय-कुल (१) वृजि, (२) लिच्छवि, (३) क्षामिक, (४) विदेती, (५) उग्र, (६) भोग, (७) इक्ष्वाउ, (८) कौरव नामके थे। इनमेंसे लिच्छवि प्रधान था। इसकी राजधानी वैशाली थी। इसके अन्तर्गत ही कुण्डग्राम था, जिसके अधिनायक महाराज सिद्धार्थ थे। महावीरकी माता गणराज्यके अधिपति चेतककी बहन थी। भारतने अनेक विषम परिस्थितियों और संकटोंको पारकर जिस लोकतन्त्रीय पद्धतिका विकास किया है, उसका मूल आदर्श भगवान् महावीरके समयके ये गणराज्य ही थे। वास्तवमें लोकतन्त्रका मूल आधार राजनीतिक नहीं, आध्यात्मिक है। प्रत्येक व्यक्तिको पूर्णतः नागरिक मान लेने और उसे शासक बननेका अधिकार दे देने अर्थात् धर्मके शब्दोंमें समस्त जीवमात्रको आत्मवत् समझनेकी भावनाका स्थूल संस्करण इन गणराज्य-प्रणालीको कहा जा सकता है। ऐसे ही एक गणराज्य कुण्डग्राममें भगवान् महावीरका जन्म हुआ था।

जैनागमोंमें महावीरके जन्मसमयका वर्णन बड़े रोचक ढंगसे किया गया है—जैसे कि महावीरके गर्भप्रवेशके समय माताको महास्वप्न आना और अष्टाङ्गनिमित्तके जाननेवाले ज्योतिषियोंसे फलादेशका पूछना, उनके द्वारा महापुरुषके आगमनकी भविष्यवाणी करना आदि। किंतु संक्षेपमें इतना लिख देना पर्याप्त होगा कि जन्मके बाद महावीरके शरीरपर महापुरुषोंके १००८ लक्षण दिखायी देते थे। उनका नाम वर्धमान रखा गया। ये काश्यपगोत्रीय क्षत्रिय थे। इसीलिये उन्हें ज्ञातृ-पुत्र, नायत्त तथा बौद्ध त्रिपिटक दीर्घनिकाय आदि ग्रन्थोंके अनुसार निगंठ नातपुत्त कहा जाता है।

**बाल्यकाल**—महावीरकी बाल्यावस्था विवेक, शिष्टता, शालीनता, निर्भयता आदि भद्र गुणोंसे भरी हुई थी। आठ वर्षकी अवस्थामें ही आपने विकराल सर्पके रूपमें आये देवको पछाड़ा था। पिशाच, भूत आदि किसी भी भयानक आकारसे वे नहीं डरते थे। उनका सामर्थ्य और साहस आश्चर्यजनक था। इसीलिये इन्द्रने उनके अतुल पराक्रमको देखकर उन्हें 'महावीर' नामसे सम्बोधित करना प्रारम्भ कर दिया था।

उनकी विशाल देह, गौर वर्ण, पुष्ट स्कन्ध, चौड़ी छाती, उन्नत ललाट, तेजस्वी मुख और अधरपर सदा विलास करनेवाली स्थिर हास्यकी रेखा उनके मधुर और अलौकिक व्यक्तित्वके परिचायक थे।

**विवाह**—विवाहके विषयमें जैनाचार्योंमें दो मान्यताएँ हैं।

श्वेताम्बर आगमोंकी मान्यता है कि भगवान् महावीरका विवाह समावीर सामन्तकी राजकुमारी यशोधाके साथ हुआ था और उनके प्रियदर्शना नामकी पुत्री हुई थी । दिगम्बरोंने उन्हें आजीवन कुमार और बालब्रह्मचारी बताया है।

अट्ठाईस वर्षकी अवस्थामें उनके माता-पिताका स्वर्गवास हो गया। महावीरके मनमें वैराग्य तो जन्मकालसे ही संस्कारगत था। वे सदा जगत्की दशापर विचार किया करते थे। दुःख और उससे मुक्तिके उपायके बारेमें वे सदा चिन्तन और मनन किया करते थे। इसीके लिये वे घर और राजपाट सभी छोड़ना चाहते थे। अत्यन्त आग्रह करके ही महावीरके बड़े भाई नन्दिवर्धन उन्हें दो वर्षतक रोक सके। वे भाईके आग्रहको टाल न सके। वे रुके तो अवश्य, परंतु अपना समय अपनी सम्पत्तिको लोगोंमें बाँटनेमें लगाने लगे। प्रतिदिन प्रातःकालसे दोपहरतक वे कोटि-कोटि स्वर्ण-दीनारोंका दान करते थे।

तीस वर्षकी अवस्थामें जगत्के समस्त जीवोंके सुख और शान्तिके अमोघ उपायरूप धर्मतीर्थके प्रवर्त्तनके लिये वे घरसे निकल पड़े। सुवर्ण-रत्न, धन-धान्य, स्त्री-परिवार, राज-पाट—सबसे वे विरत हो गये।

भगवान्‌का गृहस्थ-जीवन तीस वर्ष लंबा होते हुए भी सुखपूर्ण था । राज्य-वैभवका विशाल स्तूप और सत्ताका विराट् कोष उनके चारों ओर बिखरा पड़ा था। किंतु भगवान्‌के मनमें सम्पूर्ण जीवोंको अमर शान्ति और प्राणियोंको निरन्तर त्रस्त करनेवाली मृत्युकी व्याकुलतासे मुक्ति दिलानेकी जो लालसा थी, उसने उन्हें किसी जागतिक आकर्षणमें न फँसने दिया। वे अकेले जंगलकी ओर चल पड़े साधनाके पथपर, अनन्त अमर आनन्दकी खोजमें।

## साधक महावीर

भगवान्‌ने मार्गशीर्ष कृष्णा दशमीको दिनके चौथे पहर हजारों नागरिकोंके सामने क्षत्रियकुण्डके बाहर ज्ञातखण्ड उद्यानमें अशोक वृक्षके नीचे अपने समूचे वस्त्र उतारकर, समस्त सांसारिक सम्बन्धोंसे विलग होकर प्रतिज्ञा कर ली कि 'आजसे मैं पूर्ण समभावको स्वीकार करता हूँ। मन, वचन, कायाके द्वारा पापकारी प्रवृत्तिसे सदाके लिये निवृत्त होता हूँ।'

भगवान् महावीर आध्यात्मिक महापुरुष थे । उन्होंने किसी सम्प्रदायमें दीक्षा ग्रहण नहीं की और न किसी मनुष्यको उन्होंने गुरु ही बनाया। वे सिद्ध परमात्माको नमस्कार करके आत्मसाधनाके पथपर चल पड़े । आत्माकी सिद्धिमें शरीरका मोह बाधक बनता है। आगपर रखे बिना सोना कुन्दन नहीं बनता। ठीक इसी तरह हमारे शरीरको भी तपरूप अग्निकी भट्ठीपर चढ़ाये बिना कर्माकर्मके दोष धुलेंगे नहीं और आत्माका ज्ञानस्वरूप चमकेगा नहीं। परिश्रमका पसीना दरिद्रताके अभिशापसे छुड़ा देता है। चिन्तनकी गहराई बौद्धिक अविवेकको समाप्त कर देती है और निश्चल समाधि मनकी चञ्चलताको नष्ट कर देती है।

साधनाका पथ विकट है। प्रव्रज्या लेते ही उन्होंने पञ्च-महाव्रतोंकी प्रतिज्ञा ली।

( १ ) मैं सर्वप्राणातिपातका त्याग करता हूँ। मैं स्थावर या, जङ्गम, सूक्ष्म और बादर ( स्थूल )—किसी भी प्राणकी मन-वचन और कायासे स्वयं तो हिंसा करूँगा नहीं, दूसरोंसे भी नहीं करवाऊँगा और न हिंसा करनेका किसी प्रकार समर्थन—अनुमोदन ही करूँगा।

( २ ) मैं मन-वचन और कायसे कृत, कारित और अनुमोदित असत्यका त्याग करता हूँ।

( ३-४-५ ) मैं सब प्रकारकी चोरी, मैथुन और परिग्रहका तीनों करण, तीनों योगसे प्रत्याख्यान करता हूँ।

अपनी प्रतिज्ञाओंके प्रति महावीरकी श्रद्धा अगाध थी। अपनी प्रतिज्ञामें वे अत्यन्त दृढ़ थे। अनेकों संकट आये, उपसर्ग हुए; किंतु अपने संकल्पसे वे रंचमात्र भी च्युत न हुए। यही कारण है कि महावीरकी साधक अवस्था निरी कष्टोंकी रोमहर्षण भयानक कहानी है। आत्माकी खोजके लिये संसारमें किसी महापुरुषने बारह वर्षतक इतना घोर कष्ट सहन किया हो, ऐसा उदाहरण हमें मिलता नहीं। महावीरमें तपकी पराकाष्ठा थी चिन्तनकी गहनता थी और थी समाधिकी अखण्डता।

बारह वर्ष पाँच माह पंद्रह दिनतक महावीर साधना करते, अपनी सिद्धिकी साधनामें 'वोसट्ठ-चत्त देहे'—शरीरको उत्सर्गकी बलिवेदीपर निछावरकर मुक्तिमार्गके अनन्त पथकी खोज करते रहे। वे आत्माके ध्रुव मार्ग तथा शाश्वत धर्मकी शोधमें लगे रहे। महावीर ऐसे महापुरुष थे, जिन्होंने सार्वभौम धर्म और शाश्वत मार्गकी खोजको ही अपना उद्देश्य बनाया था। इस शोधमें वे अपनी कायातककी सुध-बुध खो बैठे थे।

वे वृक्षके नीचे दोनों पैरोंको एकत्रितकर हाथोंको नीचे

फैला एक वस्तुपर त्रकटाके—निर्निमेष दृष्टि लगाकर शरीर और इन्द्रियोंको अधीन कर ध्यानमुद्रामें लीन रहते। उन्हें इस प्रकारकी समाधिमें कई दिन और रात बीत जाते।

गर्मीकी झुलसती दुपहरियोंमें अंगारोंकी जलती चट्टानोंपर वे ध्यान लगाते, धधकते हुए रेतीले मैदानोंमें निश्चल हो चिन्तन करते। शीतमें भुजाओंको सदा फैलाकर रखते। शिशिर और हेमन्तकी ठंढी हवाएँ फुंकारें मारतीं, देहमें तीर-की भाँति लगतीं। ऐसे समयमें जब दूसरे साधु लकड़ी जला कर शीत मिटाते, भगवान् नंगे बदन चिर-समाधिमें लीन रहते।

सर्पोंके बिलोंपर खड़े रहकर तपस्या करना ही उनका परीक्षण था। श्मशानों और निर्जन भूखण्डोंपर ही उनका डेरा लगता, दुराचारियोंके उत्पीड़न ही उनके स्वागत थे, और कामिनियोंके वासनाकुल कटाक्षभरे निमन्त्रण ही उनके लिये त्यागकी प्रेरणा थे। उनके पैरोंपर खीर उबाली गयी, उन्हें कुत्तोंसे चटवाया गया। लाट देशके म्लेच्छोंने उनका जी भरकर अपमान और उन्हें पीड़ित करनेका प्रयत्न किया, किंतु उस पार्थिव पिण्डमें रहे ज्योतिःस्वरूप महावीरने तो सब-पर करुणा और प्रेमकी ही वर्षा की।

छः मासतक वे निराहार रहकर आत्मचिन्तन करते और कभी भोजन लेते भी तो रूखा-सूखा ठंढा पुराने उड़द-के बाकलोंका आहार करते। उस समय उनका अनुयायी कोई न था। वे सदा मौन रहा करते और निरन्तर आत्म-दर्शनकी ओर उन्मुख रहते। उत्कटुक, गोदोहन तथा वीरासन लगाकर ही वे प्रायः ध्यान लगाते। फिर चाहे उन्हें कोई डंडोंसे पीटता, केश खींचता, कुछ भी करता, वे निर्विकार निर्मल ध्यानमें तन्मय रहते।

महावीरका जीवन अहिंसाका मूर्तिमान् रूप था। मार्गमें चलते हुए कबूतर दाने चुगते हुए दिखायी दे जाते अथवा श्रमण, अथवा ब्राह्मण भिखारी भीख माँगता दिखायी दे जाता तो महावीर उसी समय दूरसे ही मार्ग बदल देते। महावीर ऐसा कोई भी कार्य नहीं करते थे, जिससे किसीके भी मनमें द्वेष उत्पन्न हो।

आचाराङ्ग-सूत्रमें इस अहिंसक महापुरुषको दी गयी यातनाओंका वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'अनार्य लोग महावीरको अपरिचित जानकर चोर आदिके भ्रमसे लाठियों, भुजालियों, भालेकी अणियों और हड्डियोंके खपरोंसे पीट-पीटकर घायल कर देते। किंतु अहिंसाका सूत्रधार अहिंसाकी साधनामें पीयूष-वर्षा करता हुआ आध्यात्मिक चिन्तनमें निश्चल और निर्विकार भावसे लगा रहता।

भगवान् इसी कष्ट-सहनके बाद स्वयं सम्बुद्ध बने। उनकी साधनाका मूल उद्देश्य आत्म-सम्प्राप्ति था, जिससे वे अति दुखी प्राणियोंका कल्याण कर सकें। वे जानते थे कि जन्म दुःख है, आधि दुःख है, व्याधि दुःख है, जरा दुःख और मरण दुःख है। संसार दुःखसे जल रहा है। उसमें अहिंसा और सत्य ही परम शान्तिका मार्ग है। आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाना ही अन्तिम सिद्धि है।

साधनाके तेरहवें वर्षमें भगवान् प्रवेश कर चुके थे। मौतरूपी पिशाचको पछाड़नेमें भगवान् सफल हो रहे थे; बोधि-लाभका दिन आ पहुँचा। बुद्धको जैसे अश्वत्थ वृक्षके नीचे बैठे-बैठे बोधि-लाभ हुआ था, उसी प्रकार भगवान् महावीरको भी भाजुवालुकाके तटपर जृम्भिक ग्रामके बाहर शालवृक्षके नीचे वैशाख शुक्ला दशमीको दिनके अन्तिम प्रहरमें आतापतामें सूर्याभिमुख तप करते हुए अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शनका लाभ हुआ। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन गये। समस्त विश्व उन्हें हस्तामलकवत् दिखायी देने लगा। उनकी जीवन-साधना पूरी हुई।

## तीर्थङ्कर महावीर

भगवान् महावीर तीर्थङ्कर थे। तीर्थङ्कर वे ही होते हैं, जो दुःखके दावानलमें जलते हुए प्राणियोंके लिये उद्धारका बाट बना सकें अथवा जिनके सहारे तरा जा सके। अहिंसा-तीर्थसे समूचा जगत् तर सकता है। इस प्रकारके तीर्थकी स्थापना करनेवाले महावीरसे पहले भी तेईस तीर्थङ्कर हो चुके हैं। महावीर चौबीसवें तीर्थङ्कर थे। जैन-तीर्थङ्कर पूर्णज्ञान प्राप्त किये बिना धर्मका प्ररूपणा (प्रवचन) नहीं करते। पूर्ण बोधि होनेपर ही वे उपदेश देते हैं।

भगवान् महावीरने जृम्भिक ग्रामसे चलकर मध्यम पावापुरीमें अपना प्रथम धर्मोपदेश दिया और इस प्रकार धर्मचक्र प्रवर्तन किया। उनके उपदेशमें अलौकिक शक्ति थी। उनकी भाषाको सब समझ सकते थे। उनके भाव का आत्मापर प्रभाव पड़ता था। एक-एक शब्द मर्मस्पर्शी था उनका।

जनताके प्रति उनका पहला उपदेश था—असंयमसे संयमकी ओर चलो। संसार शून्य नहीं, वास्तविक है। जड और चेतन—ये दो मूल तत्त्व ही जगत्के निर्माणमें काम करते हैं।

पदार्थ अपने मूलमें नित्य है, पर्यायमें परिवर्तनशील है। यही कारण है कि संसार मूलमें नित्य होते हुए भी उत्पाद-विनाशशील है। यह समूचा विश्व जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—इन्हीं छः द्रव्योंका समुदाय है।

आत्मा है, उसे अनुभूति और उपभोगसे जाना जा सकता है; किंतु जीव कर्मोंके पटोंसे आवृत हो गया है, उसे अपना रूप नहीं दिखायी देता। अहिंसा, संयम और तपके द्वारा कर्मोंका विनाश और आत्माका बोध हो सकता है।

भगवान्की पावनवाणी गङ्गाकी धाराकी भाँति प्रवाहित हो उठी। जन-जनका मानस एक नये आलोकसे भरने लगा। घर और बाजारोंमें—सब कहीं यह लोक-जीवनकी चर्चाका विषय बन गया।

एक बार अग्निभूति, फिर वायुभूति आदि ग्यारह महाविद्वान् अपनी विद्वन्मण्डली और शिष्य-परिवारके साथ इनके पास आये और महावीरने प्रत्येकके मनका संदेह दूर-कर उनका समाधान किया। भगवान् महावीर कहते गये—

'अग्निभूति! तुम्हें कर्मकी सत्तापर संदेह है।'

'वायुभूति! तुम्हें शरीरातिरिक्त आत्माकी सत्तापर विश्वास नहीं।'

'आर्यव्यक्त! तुम्हारा विश्वास है कि ब्रह्मके सिवा सारा जगत् शून्य है।'

'और सुधर्मा! तुम्हारी धारणा है कि समस्त प्राणी मरकर उसी योनिमें उत्पन्न होते हैं।' आदि।

भगवान्ने इन ग्यारह पण्डितोंके मनकी शङ्का-ग्रन्थियोंको खोलकर रख दिया। तब पण्डितोंने संदेहसे मुक्त होकर अपना मस्तक भगवान्के चरणोंमें झुका दिया। उनका सारा अभिमान गल गया।

उन्होंने अपने शिष्य-समुदायके साथ भगवान्का शिष्यत्व स्वीकार करके प्रव्रज्या ले ली और यों एक ही दिनमें भगवान् महावीरके अनुयायी ४४११ साधु बन गये। वे ग्यारह विद्वान् ही आगे चलकर महावीरके शिष्य-समुदायमें 'गणधर' कहलाये।

भगवान् महावीरने पहली उद्घोषणामें कहा था—

'विश्वास करो कि जीव और अजीव हैं।

'पाप और पुण्य हैं।

'बन्ध और मोक्ष हैं।

सिद्धि और सिद्धिका स्थान है।

संसारके नागरिको! आत्माका कल्याण आचारमें अहिंसा और विचारमें अनेकान्तकी प्रतिष्ठा किये बिना नहीं हो सकता।

भगवान् महावीर जीवन-साधक थे। उन्होंने जीवोंके कल्याणके लिये, धार्मिक सुव्यवस्थाके लिये चतुर्विध संघ (साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका) की स्थापना की। परहितके साधनमें जुट जाना ही प्रभुने साधकका उद्देश्य बताया। साधकोंको चार भागोंमें विभक्तकर भगवान्ने उपदेश दिया। प्रत्येक मुमुक्षु साधकके लिये प्रभुने चार 'शरण' दिये—

अरिहंतकी शरण
सिद्ध (परमात्मा) की शरण
साधुकी शरण
धर्मकी शरण

आठ उद्बोधन दिये:—

असंयमसे संयमकी ओर चलो
अब्रह्मचर्यसे ब्रह्मचर्यकी ओर चलो
अकल्पनीयसे कल्पनीयकी ओर चलो
अज्ञानसे ज्ञानकी ओर चलो
अझिभासे झिभाकी ओर चलो
मिथ्यात्वसे सम्यक्त्वकी ओर चलो
अबोधिसे बोधिकी ओर चलो
अमार्गसे मार्गकी ओर चलो

छः द्रव्य, नौ तत्व, चार निक्षेप, सप्त नभसे वस्तुतत्त्वको समझो। आन्तर और बाह्य असम रेखाओंको समभावसे मिटाओ। पूर्ण साम्यभोग और आमस्वरूपकी पूर्णताकी सिद्धि प्राप्त करो।

संघकी सुदृढ़ और सुन्दर व्यवस्थाके कारण उसकी दिनोदिन उन्नति होने लगी। भगवान् महावीरके समय ही उनके साधु और साध्वियोंकी संख्या ५०००० हो गयी थी। इसी प्रकार उनके अनुयायी श्रावक-श्राविकाओंकी संख्या ४७७००० तक पहुँच गयी थी। भगवान् महावीरके श्रमण-संघकी अद्वितीय संगठन-प्रणालीका ही यह सबूत है कि आज २५०० वर्षोंके अनेक अंधड़ और तूफानोंके बाद भी जैन श्रमणपरम्परा त्यागपर चट्टानकी तरह अडिग अडोल-भावसे खड़ी हुई है।

भगवान् तीन वर्षतक मगध, कोसल आदि देशोंमें धर्म-प्रचार करते रहे। उनका विहार-क्षेत्र विस्तृत है। प्रभुके प्रभावका आलोक कितना सर्वव्यापी था, इसका उल्लेख बौद्ध-ग्रन्थोंतकमें मिलता है। उनका अहिंसात्मक सूक्ष्म ज्ञान अद्वितीय और अनुपम था। विश्वका वह जन्मजात अहिंसक महापुरुष आयुके अन्तिम श्वासतक अहिंसाधर्मका प्रकाश फैलाता रहा।

## परिनिर्वाण

भगवान् महावीरका अन्तिम चातुर्मास्य मध्यम पावापुरीमें हुआ था। आपने महाराज हस्तिपालकी रज्जुक सभामें अन्तिम वर्षावास बिताया था। अन्तमें ७२ वर्षकी अवस्थामें आपने कार्तिक कृष्णा अमावस्याकी रात्रिकी अन्तिम घड़ियोंमें अहिंसाके ज्योतिर्धरने जन्म, जरा, आधि, व्याधिके बन्धनको छोड़कर सिद्ध बुद्ध मुक्त अवस्था प्राप्त की। उस समय देवों, गणराजाओं और अन्य मनुष्योंने भगवान्के निर्वाणको अत्यन्त उल्लाससहित मनाया और दीपावली प्रज्वलित की। लोकमें तभीसे दीपावली प्रचलित हो गयी।

भगवान् महावीरने निर्वाण प्राप्त करनेसे पहले अन्तिम उपदेशमें कहा था—'हे गौतम! मेरे निर्वाणके बाद लोग कहेंगे—निश्चय ही अब कोई जिन नहीं हैं! पर हे गौतम! मेरा उपदिष्ट और अनेक दृष्टियोंसे अतिमानित अहिंसा और अनेकान्तात्मक समन्वयमार्ग पथ-प्रदर्शकके रूपमें रहेगा। ग्राम, नगर—जहाँ भी जाओ, संयत रहकर शान्तिमार्गकी वृद्धि करना और अहिंसा-मार्गका प्रचार करना।'

भगवान् महावीरके निर्वाणके अनन्तर संघका भार पाँचवें गणधर सुधर्मा स्वामीको सौंपा गया।

सुधर्मा स्वामीने भगवान्को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए मार्मिक शब्दोंमें कहा था—

'योद्धाओंमें जैसे वासुदेव, पुष्पोंमें जैसे अरविन्द श्रेष्ठ है, उसी प्रकार ऋषियोंमें भगवान् महावीर श्रेष्ठ हैं।

'दानोंमें अभयदान, सत्यमें निरवद्य सत्य, तपमें ब्रह्मचर्य जैसे श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार लोकमें ज्ञातृपुत्र महावीर श्रेष्ठ हैं।'

# गीताके प्रति वस्तुनिष्ठ ( Objective ) और आत्मनिष्ठ ( Subjective ) दृष्टिकोण

( लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार )

गीताके पहले अध्यायमें अर्जुनको जो विषाद हुआ, उसके पीछे एक छोटी-सी भूमिका है। महाभारतका अध्ययन करनेसे इसका परिचय मिलता है। गीताके पहले अध्यायके पहले श्लोकमें धृतराष्ट्रका यह प्रश्न कि 'मेरे पुत्रों और पाण्डवोंने कुरुक्षेत्रमें क्या किया?' बड़ा साभिप्राय है। महाभारतके उद्योगपर्वमें एक अध्याय संजययानके नामसे है। इसमें संजयकी उस यात्राका वर्णन है, जो उसने धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे पाण्डवोंके निवासस्थानकी ओर की थी। धृतराष्ट्रने संजयको इस गुप्त संदेशके साथ भेजा था कि वह पाण्डवोंको—विशेषतः धर्मराज युधिष्ठिरको युद्धकी निरर्थकता समझाये और धर्म, शान्ति तथा भ्रातृप्रेमके नामपर उन्हें युद्ध करनेसे रोके। संजयने इस कामको अच्छी तरह किया; पर प्रतीत होता है कि वह विशेष सफल नहीं हो सका। इसलिये धृतराष्ट्रका यह प्रश्न सर्वथा स्वाभाविक था कि इतना समझाने-बुझानेके बाद भी दोनों पक्षोंने क्या किया।

## विषादके दो स्वरूप

पहले अध्यायमें अर्जुनका विषाद दो प्रकारका है, एक वस्तुनिष्ठ ( Objective ) और दूसरा आत्मनिष्ठ ( Subjective )। पहलेमें वह अपने सम्मुख खड़े स्वजनोंको देखता है। उसका शरीर काँप जाता है और हाथसे गाण्डीव खिसकने लगता है। आत्मनिष्ठ विषादमें वह व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय और मानवताके विनाशका बड़ा भयंकर चित्र खींचता हुआ अपनी आत्माके अन्तस्तलमें प्रसुप्त आशङ्काओंको प्रकट करता है। व्यक्तिगत दृष्टिसे वह इस युद्धके परिणामस्वरूप मित्र-द्रोह, पारिवारिक दृष्टिसे कुलपरम्पराओंका नाश, सामाजिक दृष्टिसे महिला-बालकोंके कुपथगामी होनेका भय, राष्ट्रिय तथा जातीय दृष्टिसे वर्णसंकर और समस्त मानवसमाजकी दृष्टिसे मानवताका नरकमें डूब जाना—ये सब आपत्तियाँ और संकट इस युद्धके फलस्वरूप होंगे, ऐसी घोषणा स्पष्ट शब्दोंमें करता है। इस प्रलयकालीन महाविनाशका मूल क्या है? अर्जुन कहता है कि 'राज्यके लोभ' से मुक्त होनेकी कामना करता हुआ वह निःशस्त्र ही सशस्त्र सेनाके द्वारा मारे जानेकी एकमात्र कामना करता है।'

## वस्तुनिष्ठ विषादका निराकरण

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनकी इन दोनों प्रकारकी आशङ्काओंका निवारण बड़ी बुद्धि और युक्तिसे करते हैं। वस्तुनिष्ठ (objectvie) शङ्काओंके बारेमें श्रीकृष्णने कहा—'इस विश्वमें कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है, वह सतत परिवर्तनशील है। कुछ समय पूर्व एक वस्तु नहीं होती, कुछ समय बाद वह फिर नष्ट हो जायगी। इन दो किनारोंके बीच कुछ समयके लिये उस वस्तुकी सत्ता होती है, तब इस अस्थायी सत्ताके लिये मोह क्यों करना?' वस्तुनिष्ठ (objectvie) घटनाओंके बारेमें श्रीकृष्णकी यह युक्ति बड़ी अकाट्य है कि जिस प्रकार यह शरीर बचपनसे जवानी और जवानीसे बुढ़ापेमें आता है और कोई मनुष्य चाहे कितना ही बलवान् और विद्वान् क्यों न हो—इस परिवर्तनको रोक नहीं सकता, उसी प्रकार मृत्युसे सर्वथा निर्भय होकर दूसरे शरीरकी प्राप्तिके लिये तैयार रहना चाहिये।

कौरवोंकी विशाल सेनाको देख अर्जुनके हृदयमें भयंकर विषाद, भय और त्रास पैदा हो गया था। श्रीकृष्णने आत्माकी अमरताका उपदेश देकर इसका निराकरण किया। इन महापुरुषके ये वाक्य कि इस आत्माको शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता, वायु सुखा नहीं सकता और जिस प्रकार मानव पुराने कपड़ोंको फेंककर नये वस्त्र ग्रहण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीरोंको छोड़कर नये शरीर ग्रहण करता है।* सचमुच बड़े बलदायक, स्फूर्तिप्रद और निराश आत्मामें आशाका संचार करनेवाले हैं।

## आत्मनिष्ठ विषाद

अब अर्जुनके आत्मनिष्ठ (Subjective) भयको दूर करना जरूरी था। अर्जुनने युद्धके फलस्वरूप पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय और समूची मानवतापर आनेवाले जिन महान् संकटोंकी ओर इशारा किया था, उन सबका मूलोच्छेदन श्रीकृष्णने एक ही युक्तिसे कर दिया। वह यह कि 'हे अर्जुन! तुम क्षत्रिय हो; क्षत्रियका धर्म है कि वह युद्ध करे, इससे बढ़कर उसका कोई धर्म नहीं है। अपना धर्मपालन—यही मानवका एकमात्र लक्ष्य है। कर्तव्य-पालनसे कटु परिणाम भी निकल सकते हैं। पर ऐसे परिणाम कर्तव्य-पालनके बाद प्राप्त होनेवाले आत्मसंतोष और आत्म-आनन्दकी तुलनामें सर्वथा गौण हैं। अगर क्षत्रिय युद्धमें विजयी होता है तो वह धर्मराज्यकी स्थापना करके युद्ध-जनित संकटोंका उपाय कर सकता है। यदि वह युद्धमें मर जाता है तो उसे स्वर्ग अर्थात् उत्तम गति प्राप्त होती है; यदि वह हार जाता है तो भी धर्म-पालनसे प्रादुर्भूत आत्मिक आह्लाद उसकी पराजयकी वेदनाका अन्त कर देगा। यदि क्षत्रिय युद्धभूमिसे भाग जाय, तो इतिहासमें वह सदाके लिये अपयशका भागी बनेगा। लोग उसकी कायरतापर हँसेंगे और उत्तम पुरुषके लिये अपयश मृत्युसे भी अधिक घातक है।'

इस सारे उपदेशको देते हुए अन्तमें श्रीकृष्णने कहा—'हे अर्जुन! अब तू वीर बनकर खड़ा हो और युद्धके लिये तैयार हो जा।'

## लोकसंग्रहकी भित्ति

पर इस आत्मनिष्ठ धर्मपालनकी भित्ति जीवनके एक ऐसे स्वर्णसिद्धान्तपर है, जो कहनेमें सहज है पर करनेमें कठिन है। यह कर्मयोगकी चतुस्सूची है। गीताका सारा आधार इसीपर है। एक शब्दमें कहें तो यही निष्कर्मकी भावना है। श्रीकृष्णने कहा—हे अर्जुन! तुम कर्तव्यकी भावनासे ही अपने कर्म करो, उसके फलकी कामना मत करो; तुम्हारा अधिकार कर्म करनेतक ही है। फलमें तुम्हारा अधिकार नहीं है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
(गीता २।४७)

पर इसके साथ तीसरा सिद्धान्त यह भी कह दिया कि 'कर्म-फलकी इच्छा ही तुम्हें कर्ममें प्रेरित करनेवाली न हो।' कर्मयोगका चौथा सूत्र यह कहा कि इसका यह अभिप्राय नहीं कि तुम कर्म ही न करो—

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।
(गीता २।४७)

'कर्म तो तुम्हें अवश्य करने होंगे, इच्छा और अनिच्छा दोनों प्रकारसे करने होंगे; क्योंकि कोई प्राणी एक क्षणके

---

* नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

लिये भी बिना कर्मके नहीं रह सकता। इसलिये जब कर्म करने ही हैं, तब क्यों न लोकसंग्रहकी भावनासे कर्म किये जायँ ?

## सकामद्वारा निष्काम कर्म

श्रीकृष्ण यह जानते थे कि सामान्य मनुष्यके लिये सीधे निष्काम कर्म करना सम्भव नहीं है। मानव स्वभावतः किसी आशा और आकाङ्क्षासे ही कोई कर्म करता है। इसलिये अर्जुनको पहले स्वर्ग-प्राप्तिकी इच्छासे युद्धमें प्रवृत्त होनेका उपदेश श्रीकृष्णने दिया। यह सकाम कर्म है। सकाम कर्मके बाद ही निष्काम कर्ममें प्रवृत्ति हो सकती है। शुभकर्मोंको सकाम भावनासे करनेके बाद ही निष्काम भावनाको लाया जा सकता है। इसीका नाम लोकसंग्रह है। इसके द्वारा मानव उन सब संकटोंसे छुटकारा पा जाता है, जिनका संकेत अर्जुनने वस्तुनिष्ठ ( objective ) दृष्टिसे गीताके आरम्भमें किया था।

वस्तुतः कर्मका मापदण्ड उसका फल नहीं है, किंतु उसके पीछे रहनेवाली भावना है—जैसे किसीको जानसे मार डालना पाप है; पर जब राजाकी आज्ञासे सिपाही किसीको प्राणदण्ड देता है, तब सिपाहीको कोई पाप नहीं लगता; क्योंकि घातक और सिपाहीकी भावनामें भेद है। इसलिये अपने कर्तव्योंका ठीक प्रकारसे पालन करना और समबुद्धिके साथ करना, यही सच्चा योग है। इस प्रकारके योगीको, गीताकी परिभाषामें, 'स्थितप्रज्ञ' कहा गया है।

# राम-श्यामकी झाँकी

( लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी )

[ भाग ३१, सं० १२, पृष्ठ १३८८ से आगे ]

### ८८—उत्सव

'माँ ! आज उत्सव है न ?' गो-चारणसे लौटे तो श्यामसुन्दरको देर हो चुकी। वह स्नान कर चुका। मैयाने उसे थोड़ा-सा पुष्पोंसे सजा दिया है। अब घर आये सखाओंसे पता नहीं क्या बातचीत कर आया है कि माता रोहिणीकी गोदमें सहसा आ बैठा है और उनके कण्ठमें दोनों भुजाएँ डालकर बड़े भावसे पूछ रहा है।

'अनन्त-चतुर्दशीका उत्सव तो दिनमें होता है, बेटा ! व्रजराजने बड़ी श्रद्धासे भगवान्‌का पूजन कर लिया।' माँकी गोदमें कृष्ण जब इस प्रकार आ बैठता है, वे वात्सल्यमें बेसुध-सी हो जाती हैं। झरने लगता है उनके वक्षका अमृत।

'नहीं माँ ! उत्सव इसी समय है। तू बहुत-सा पूए, खीर, हलुवा बना ले।' श्यामसुन्दर कोई नवीन योजना लाया है।

'किसका उत्सव है ?' माँको तो कोई उत्सव स्मरण नहीं आता। 'दाऊ दादाका।' कन्हाईको जैसे अपना दाऊ दादा ही सदा दीखता है।

'क्या है दाऊका आज ?' माँको हँसी आ गयी।

'उत्सव है।' श्याम नहीं जानता कि उत्सवके लिये कुछ और भी होना चाहिये।

'अच्छा लाल ! तू जब कहे, तभी उत्सव !' भला माँको क्या आपत्ति कि उनका कृष्ण यदा-कदा उत्सवके बिना भी उत्सवकी धूम कर ले। उन्होंने पूछा—

'किंतु इस उत्सवमें खायगा कौन ? ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करना है क्या ?'

'मैं खाऊँगा, दाऊ दादा खायगा, सुबल खायगा, भद्र खायगा—सब खायँगे।' मोहनके सब सखाओंका उत्सव है यह। 'अपना मधुमङ्गल ब्राह्मण है न ?'

'अच्छा, तो थोड़ी देरमें तुम सब आ जाओ।' माँ हँसकर उठ गयी तैयारी करने। किसीको निमन्त्रण नहीं देना है, नित्यके ही देवता आज भी भोग लगायेंगे।

'यह क्या हो रहा है ?' मैयाने चौंककर माता रोहिणीसे पूछा।

'कृष्ण कहता है कि उसके बड़े भाईका उत्सव है आज।' माँ हँस रही हैं और बड़ी तत्परतासे पक्वान्न बनानेमें लगी हैं।

'रातको यह धूमधाम ?' बाबा भी एक बार चौंके, पर वे कहते हैं—'कृष्ण ठीक ही तो कहता है। आज अनन्त-चतुर्दशीको रात्रि-जागरण करके भगवान् नारायणका कीर्तन करना चाहिये था हम सबको। हम यह बात भूल गये थे।'

अब वे गोपोंको एकत्र करके गोष्ठमें रात्रि-संकीर्तनकी व्यवस्थामें लग गये हैं । अनन्तचतुर्दशी और दाऊके उत्सवका समन्वय वे क्यों ढूँढ़ें ।'

उत्सव दाऊ दादाका है, नन्हे गोल-मटोल काले-काले गुमसुम शालग्रामजीका पूजन भी इसमें हो जाय तो श्यामसुन्दरको आपत्ति नहीं, पर वह अपना उत्सव पृथक् करेगा । उसने बड़े भाईसे कहा—'दादा ! तू शङ्ख बजा, मैं शृङ्ग बजाऊँगा; भद्र भेरी पीटेगा, सुबल ढोल । ऋषभ······ सब कुछ-न-कुछ बजायेंगे, कुछ न हो तो ताली ही । गायें, वृषभ, बछड़े—सब खोल दिये हैं इस समय बालकोंने । अन्ततः वे भी उत्सव मना लेंगे ।'

वर्षाका धुला मेघहीन गगन, उज्ज्वल चन्द्रिका—इस चतुर्दशीकी चन्द्रिकाके सामने शरद्की पूर्ण चन्द्रिका भी झूठी हो गयी है । फुदक रहे हैं चारों ओर बछड़े; कूद रही हैं, नाच रही हैं गायें; हुँकार रहे हैं वृषभ । भद्रकी भेरी, सुबलका ढोल, किसीका मृदङ्ग, किसीकी तुरही और बहुतोंका करताल या किसीका बर्तनको ही बजानेका शब्द । गूँज रही हैं दिशाएँ और इस महाशब्दमें सबसे ऊपर गूँज रहा है श्यामके शृङ्ग और दाऊके शङ्खका महानाद । आज उत्सव है—नवीन उत्सव है और इस उत्सवमें गायों, बछड़ों, वृषभों, गोपकुमारोंसे घिरे राम-श्याम होड़-सी लगाकर शङ्ख और शृङ्ग बजा रहे हैं । अब व्रजराजने गोपोंके साथ जो संकीर्तन आरम्भ किया है, उसकी ध्वनि क्या इस ध्वनिमें सुनायी पड़ सकती है ?

## ८९–मैं रोऊँगा

'दादा ! मैं गुञ्जा ले आऊँ ?' कृष्णचन्द्र बहुत कम पूछता है कोई बात अपने भाईसे; किंतु आज इसे कुछ दूर जाना है, अकेले जाना है । लौटनेमें देर हुई तो दाऊ डाँटेगा । बड़े भाईकी ओर कुछ सामने होकर यह आगेको झुका सटकर बैठ गया है ।

'चल ! मैं साथ चलता हूँ ।' दाऊने उठनेका उपक्रम किया ।

'मैं अभी आ जाऊँगा । तू यहीं बैठ ।' श्यामसुन्दरने कल सायंकाल बड़े सुन्दर पके हुए लाल-लाल गुञ्जाफल देखे हैं । उस समय तो गायें गोष्ठको लौट पड़ी थीं, किंतु उन गुञ्जाफलोंकी माला बनाकर बड़े भाईको पहिनानेकी बात तभी आ गयी थी इसके मनमें । अब यदि दाऊ भी साथ जाय तो फिर माला पहिनानेमें आनन्द क्या रहेगा ।

'अच्छा, तू सुबल और भद्रको साथ ले जा ।' कन्हाई अकेला जाय, यह दाऊको अच्छा नहीं लगता ।

'ये मेरे गुञ्जा-फल ले लेंगे । मैं किसीको साथ नहीं लूँगा ।' श्यामने एक बार सखाओंकी ओर मुड़कर देखा । सब बालक थोड़ी दूर खेलमें लगे हैं । कन्हाई भी उनके साथ खेल ही रहा था । सहसा उसे गुञ्जाकी बात स्मरण हो आयी और दाऊके पास दौड़ आया है वह ।

'तू मत जा ! मैं तेरे लिये जितने गुञ्जा कहे, मँगा देता हूँ ।' वह स्थान पर्याप्त दूर है, जहाँ जानेकी बात श्याम कहता है । वैसे केवल गुञ्जा लेकर लौटना हो तो वहाँ जाकर आधी घड़ीमें लौट आया जा सकता है; किंतु इस चपलका क्या ठिकाना । यहाँसे जाकर यह पता नहीं क्या करे और कितनी देरमें लौटे ।

'दादा ! मैं झटपट आ जाऊँगा । और कहीं भी नहीं जाऊँगा । मैं फिर कभी तुझसे दूर जानेको नहीं कहूँगा ।' कितना अनुरोध, कितना अनुनय, कितना स्नेह है इस कनूँके स्वर एवं नेत्रोंमें । अपने हाथसे दाऊका चिबुक पकड़कर पूछ रहा है यह—'तो जाऊँ, दादा !'

'मैयाने क्या कहा है ?' सीधे मना करना अब दाऊके लिये शक्य नहीं रहा है । श्याम इस प्रकार पूछे तो 'ना' कैसे कहा जाय ।

'तू मुझे नहीं जाने देगा तो मैं रोऊँगा ।' मैया तो नित्य बार-बार कहती है कि दाऊको छोड़कर कन्हाई कहीं न जाने पाये; किंतु मैयाकी बात क्यों कहता है दाऊ ? श्यामसुन्दरने दोनों हाथोंसे मुख ढक लिया है और दाऊकी गोदमें अपना सिर रख दिया है ।

'क्यों रोयेगा तू ! रो मत ।' दाऊको हँसी आ गयी । वह अपने अनुजकी अलकोंपर हाथ फेर रहा है ।

'मैं रोऊँगा । नहीं तो, तू जाने दे मुझे । मैं झटपट आ जाऊँगा ।' मुख उठाकर कृष्णने फिर अनुरोधपूर्वक पूछा—'जाऊँ, दादा !'

अब दाऊ कैसे रोक दे इसे । इसका रोना कहाँ सहा जाता है दाऊसे । और यह रो पड़ेगा—यह बात तो झूठी नहीं है ।

'दादा ! यह मेरे केश खींचकर भाग आया है ।' श्रीदामका सहज पाटल-सा मुख क्रोधसे और लाल हो गया

है। वह वेगपूर्वक दौड़ा आया है। कन्हाईको वह मार्गमें पकड़ नहीं पाया और अब दाऊके पास तो अभियोग ही उपस्थित किया जा सकता है।

'क्यों कनूँ !' दाऊने दाहिना हाथ पीछे करके छोटे भाईका हाथ पकड़ा और सामने ले आनेके लिये खींचा सहज-भावसे; किंतु कन्हाई सामने नहीं आना चाहता। वह पीठसे चिपककर खड़ा है।

'मैं इसके केश क्यों खींचूँगा ? इसने मेरा पुष्प अपने केशोंमें लगाया क्यों ?' श्याम इतना भोला है कि इसे ठीक झूठ भी नहीं बोलना आता है।

'दाम ! अब जाने दे इसे तू। तुझसे तो यह छोटा ही है।' दाऊने छोटे भाईका हाथ छोड़ दिया और श्रीदामको मनानेकी चेष्टामें लगा।

'यह छोटा है मुझसे।' कृष्णचन्द्र यह कैसे सहते कि वह श्रीदामसे छोटा है।

'दादा ! देखो, यह अब भी मुझे चिढ़ा रहा है। तुम इसे मना कर दो।' श्रीदाम क्या करे। यह कनूँ अपने बड़े भाईके पाससे हटे तो समझा सकता है वह इसे; किंतु यहाँ दाऊके पास तो झगड़ा किया नहीं जा सकता।

'तू इसे यहीं रहने दे, और सखाओंमें जाकर खेल। यह है ही ऊधमी। अब इसके साथ मत खेलना।' दाऊ श्रीदामको भी असंतुष्ट तो करना नहीं चाहता और उसका यह अनुज, बड़ा नटखट है यह।

'तू भाग जा। आँख बंद कर ले तू।' स्वर्णगौर नील-वसनधारी अपने बड़े भाईकी पीठसे चिपककर कदम्बके नीचे खड़ा यह पीताम्बरधारी मयूरमुकुटी नटखट। यह हँस रहा है, मुख बना रहा है, दाँत दिखा रहा है, नेत्र मटका रहा है और अँगूठा दिखा रहा है। क्या भय है इस समय इसे। अग्रजके आश्रयमें खड़े इसका भला कोई क्या बिगाड़ लेगा।

सामने क्रोधमें भरा श्रीदामा। दाऊ कहता है कि वह अब इस श्यामसे न बोले, न खेले इसके साथ; किंतु यह कैसे हो। इसका साथ क्या छोड़ा जा सकता है ? छूट सकता है ?

### ९२—वृक्षपर

'कनूँ !' दाऊको अपना छोटा भाई दो पल भी न दीखे तो वह तुरंत पता लगाना चाहता है कि वह कहाँ है, क्या कर रहा है, आस-पास है भी या नहीं।

'कू !' श्यामसुन्दर कोकिलके स्वरमें कूककर उत्तर दे रहा है अपने अग्रजकी पुकारका।

'अरे, कहाँ छिपा कूक रहा है तू ?' अब दाऊ ऊपर वृक्षोंकी ओर मुख उठाकर देखने लगा है।

'खौं, खौं, खौं' यह नटखट कन्हाई रुष्ट बंदरकी भाँति बोल रहा है। 'म्याउँ' यह दूसरा स्वर निकाला उसने और अब तो क्रम चल पड़ा। कभी मयूरकी 'केका'में बोलता है, कभी कुत्तेकी भाँति 'भौं-भौं' करता है और कभी बछड़ेकी भाषाका अनुकरण करता है।

'तू इतने ऊपर चढ़ा है ?' दाऊ आकर ठीक उस शाखाके नीचे खड़ा हो गया है। ऊपर उठा है उसका मुख। अपने छोटे भाईको एकटक देख रहा है वह।

एक खूब सघन भली प्रकार फूले हुए कदम्बकी मोटी शाखापर श्यामसुन्दर पेटके बल लेटा है। दोनों हाथोंसे शाखा पकड़ रखी है उसने। दोनों चरण कभी शाखाके दोनों ओर फैलाकर हिलाता है और कभी पीठकी ओर उठाकर नचाता है। नीचे खड़े अपने बड़े भाईकी ओर देख-देखकर हँसता जा रहा है और अनेक प्रकारके पशुओं, पक्षियोंकी बोली बोलता जा रहा है।

'तू नीचे आ।' दाऊने अपना दाहिना हाथ उठाकर उँगलियाँ हिलाते हुए बुलाया।

'आऊँ, दादा ?' यह लो, उचककर शीघ्रतासे डालपर बैठ गया कृष्णचन्द्र। दोनों हाथ डालपर टिके हैं और दोनों चरण एक ही ओर लटक रहे हैं। नीचे मुख करके वह ऐसे पूछ रहा है कि यदि बड़ा भाई उसे गोदमें झेल लेनेको प्रस्तुत हो तो कूद पड़ना चाहता है यहींसे।

'अरे, कूद मत। उतरकर आ।' बड़ी शीघ्रतासे दाऊने दोनों हाथ ऊपर करके रोका।

'अभी आया मैं।' अब मोहन बंदरकी शीघ्रतासे उतरता आ रहा है।

'धीरे-धीरे उतर। जल्दी मत कर। धीरे उतर।' दाऊकी पुकार कभी सुनता है यह चपल। यह तो केवल बीच-बीचमें मुख घुमाकर हँसते हुए देख लेता है बड़े भाईको और उतरता आ रहा है—उतरता आ रहा है। शीघ्रतासे उतरकर समीप आनेका इसका सदाका स्वभाव.......।

## ९३—तितली

'दादा ! देख, कितनी सुन्दर तितली है ।' सचमुच पाटलके पुष्पपर खूब बड़ी-सी रंग-बिरंगे पंखोंवाली बहुत सुन्दर तितली बैठी है । श्यामसुन्दर दो क्षण देखता रहा स्थिरतासे उसे और फिर दबे पैर धीरे-धीरे उसकी ओर बढ़ने लगा ।

'देख, यह तो मेरी उँगलीपर बैठ गयी है ।' मोहनने हाथ तो बढ़ाया था तितलीको पकड़नेके लिये, किंतु तितली स्वयं उड़कर उसके दाहिने हाथकी अनामिकाके अग्रभागपर आ बैठी । इतना सुरंग, इतना सुरभित पुष्प उसे बैठनेको कहाँ मिलेगा ।

'दादा ! भगा दे तू इसे ।' कृष्णचन्द्र पहिले तो प्रसन्न हो गया । तितलीको देखता रहा वह थोड़े क्षण । फिर उसने हाथ धीरे-धीरे हटाया और बड़े भाईके पास आया । अपने हाथपर बैठी तितली दाऊको दिखायी उसने । किंतु यह तितली तो अपने पंख एकमें चिपकाकर उसकी उँगलीपर अड्डा ही बना बैठी है । कभी-कभी एक टाँग हिला देती है और बस । न हाथ हिलानेसे उड़ती, न उँगली हिलानेसे । भला, श्यामसुन्दर इसे कबतक अपनी उँगलीपर बैठाये रहे ।

'कहाँ गयी भागकर वह ?' दूसरे हाथसे उड़ानेका प्रयत्न करनेपर तितली उड़ गयी । अब कन्हाई इधर-उधर मुख घुमाकर उसे देख लेना चाहता है ।

'गयी कहाँ, यह क्या तेरी अलकोंपर बैठी है ।' सुबल हँस रहा है ।'

'दादा ! भगा दे तू इसे ।' यह कोई बात है कि हाथसे उड़कर यह सिरपर डेरा जमा ले ।

'दादा ! दादा !' श्यामसुन्दर ताली बजाकर नाचने लगा है । दाऊ उसकी अलकोंपरसे तितलीको उड़ाने लगा तो वह दाऊकी उँगलीपर ही बैठ गयी । बड़े भाईके हाथपर उसे बैठी देख मोहन बहुत प्रसन्न हुआ है ।

'रह, इसे मैं भगाता हूँ ।' दाऊने हाथसे उड़ाया तो वह उसकी अलकोंपर जा बैठी । भला, कन्हाई किसीको अपने बड़े भाईके केशोंपर बैठे रहने दे सकता है । लेकिन तितली भी कम चतुर नहीं है । उसे चार स्थान मिल गये हैं । जो केशोंपरसे उसे हटानेको हाथ बढ़ाता है, उसकी उँगलीपर बैठ जाती है और वहाँसे हटानेपर अलकोंपर । राम और श्याम उसे बार-बार हटा रहे हैं और वह कभी एककी उँगली या अलकपर बैठती है और कभी दूसरेकी उँगली या अलकपर ।

'रह, तुझे पकड़ूँगा मैं ।' और इससे अधिक अच्छी बात दूसरी क्या होगी कि यह नीलसुन्दर अपनी लाल सुकुमार उँगलियोंसे किसीको पकड़ ले ।

## ९४—काली नहीं, सफेद

'कनूँ ! दामकी कृष्णा बछिया लायी है ।' भद्रने बड़े उत्साहसे दौड़ते हुए आकर समाचार दिया ।

'बछिया तो मेरी है ।' श्यामसुन्दर दौड़ा आया और दौड़ आये सब गोपकुमार । सब चारों ओरसे घेरकर खड़े हैं और बड़े स्नेहसे, बड़े कुतूहलसे उस गायको देख रहे हैं । वह अभी अपनी नवजात बछियाको चाटनेमें लगी है । कन्हाई सीधे पहुँच गया है बछियाके पास और उसे गोदमें उठा लेना चाहता है ।

'बछिया मेरी है, तू उसे अभी छेड़ मत ।' श्रीदाम गायको कुछ खिलानेके प्रयत्नमें व्यस्त है । वह बाँसकी पत्तियाँ तोड़ लाया है, किंतु यह कृष्ण बड़ा झगड़ालू है । अभीसे यदि इसने बछियाको अपना लिया तो सदा लड़ता रहेगा उसके निमित्त ।

'बछिया मेरी है । चल, दादासे पूछ ले ।' श्यामसुन्दर बछियाको छोड़कर श्रीदामकी ओर घूमकर खड़ा हो गया है । वह स्वत्वका निर्णय पहले कर लेना चाहता है और सब विवादोंका परम निर्णायक तो उसका दाऊ दादा ही है न ?

'चल !' श्रीदाम भी झगड़ा समाप्त कर देना चाहता है । दाऊ कभी निर्णयमें पक्षपात नहीं करेगा ।

'दादा ! मेरे वनमें गैयाने बछिया दी तो वह मेरी हो गयी न ?' बड़े रोषसे कन्हाई चलता आया है । मौलिश्रीके नीचे अपनी मौजमें दाऊ इस समय अकेला बैठा है । श्यामने आकर उसका दाहिना हाथ पकड़ लिया और देखा श्रीदामकी ओर । श्रीदामको कुछ कहनेकी आवश्यकता जान ही नहीं पड़ती ।

'बछिया तो उस कृष्णाकी है ।' दाऊ हँस पड़ा और श्रीदाम प्रसन्न हो गया ।

'हाँ, उसकी तो है, पर दामकी नहीं है । मेरी है वह ।' कृष्णचन्द्र ऐसे झटपट माननेवाला कहाँ है ।

'हाँ लाल, वह तेरी ही है । गैया भी तेरी और बछिया भी तेरी ही । मैं तेरे गोष्ठमें अभी पहुँचाये देता हूँ उसे । तू दूध

पियेगा न इस गैयाका ?' अरे, वनमें ये श्रीवृषभानु बाबा गोपोंके साथ कैसे आ गये ? गैयाके ब्यानेका समाचार पाकर तो नहीं आये ? सब-के-सब बालक संकोचसे चुप हो रहे।

'बाबा! मैं काली बछिया नहीं लूँगा। मैं सफेद बछिया लूँगा। तुम इसे दामको दे दो।' बाबाके साथ सब आये गायके पास। श्यामसुन्दरने फिर देखा बछियाको। उसका मत सहसा बदल गया है। बड़े भोलेपनसे, बड़े प्रेमसे दोनों हाथोंसे बाबाका हाथ पकड़कर वह अपनी बात कह रहा है।

'लाल! अभी तू इसीको ले ले। कपिलाको बछिया देने दे तो तुझे सफेद बछिया भी दूँगा।' बाबा आनन्दसे पुलकित हो रहे हैं।

'नहीं, मैं काली बछिया नहीं लूँगा।' अब श्यामसुन्दरने बड़े भाईका हाथ पकड़ लिया है—'दादा! हम सफेद बछिया लेंगे न ?'

'बाबा! कपिला कब बछिया देगी ? तुम उसे कल बछिया देनेको कह दो।' अब बाबा क्या कह दें किससे और क्या कहें इस भोले नीलसुन्दरसे। उनके कण्ठसे तो इस समय चाहनेपर भी शब्द नहीं निकल पाता और अपने अग्रजका हाथ पकड़े यह कनूँ कहता जा रहा है'''''मैं काली बछिया नहीं लूँगा, सफेद लूँगा।'

## ९५—मान

'कनूँ ! श्यामसुन्दर !' किंतु अब कहाँ बोलनेवाला है श्यामसुन्दर ! इतनी देरसे कन्हाई अकेला कुञ्जमें बैठा है और कोई उसके पास नहीं आया। किसीने खोज-खबर नहीं ली उसकी। यह दाऊ दादा भी उसका ध्यान नहीं रखता। नहीं बोलेगा अब वह किसीसे। किसीके पास नहीं जायगा। दाऊ पुकारता है तो पुकारे, वह नहीं बोलेगा। मान किये बैठा है आज श्याम। वह रूठ गया है सखाओंसे और अपने अग्रजसे भी।

'कनूँ! कहाँ है तू ?' अरे देख, कितना सुन्दर पक्षी आया है यहाँ।' दाऊ पुकार रहा है। उसने देख लिया था कि उसका छोटा भाई सखाओंसे पृथक् एक सघन कुञ्जमें जा छिपा है। ये बालक कृष्णको थका देते हैं। थोड़ी देर वह अकेले विश्राम करना चाहता है तो अच्छा ही है। उसके एकान्तमें बाधा नहीं देनी चाहिये। किंतु अब तो देर हो गयी। अब उसे बाहर आना चाहिये। इस सुन्दर पक्षीको देखकर प्रसन्न होगा वह।

'सुन्दर पक्षी आया है।' श्यामका जी चाहता है कि उठकर दौड़ चलें उसे देखने; किंतु नहीं, वह रूठा बैठा है। दाऊके पास नहीं जाना है उसे। वह अकेला ही उस पक्षीको देखता रहे। जब वह श्यामके पास नहीं आता तो श्याम ही क्यों उसका पक्षी देखने जाय।

'तू सो गया क्या ?' दाऊ आ रहा है कुञ्जकी ओर। अब श्याम सचमुच लेट गया और नेत्र बंद कर लिये इसने।

'कनूँ !' कहीं सोया और जागता व्यक्ति छिपता है। दाऊ पास आकर बैठ गया। छोटे भाईकी पीठपर धीरेसे हाथ रखा उसने।

'तू मुझे मत छू। जा, तू अपने पक्षीको देख और उसीके साथ खेल।' कृष्णचन्द्रने बड़े भाईका हाथ अपने शरीरसे हटा दिया और कुछ दूर लेटे-लेटे ही खिसक गया।

'तू रूठ गया है ? मैंने तो कुछ किया नहीं।' दाऊके अधरोंपर मन्द हास्य आया। वह अपने छोटे भाईके पास खिसक आया।

'तू अबतक क्यों मेरे पास नहीं आया ? मैं तुझसे नहीं बोलूँगा।' श्यामने फिर हाथ हटाया और फिर एक ओर हटा। इसने मुख दूसरी ओर कर लिया है, जिसमें दाऊ इसके भरे नेत्रोंको देख न ले।

'कनूँ ! उठ तो सही तू !' किया क्या जाय। यह दाऊ बलपूर्वक छोटे भाईको अङ्कमें उठा रहा है। श्याम चाहे जितना हाथ-पैर हिलाये, परंतु इससे छूटने-जितनी शक्ति कहाँ है उसमें और अब इसका मुख अपने सामने कर दिया है दाऊने। 'तू उस पक्षीको देखने चल।'

अब दाऊके मुखकी ओर देखकर कैसे रूठा रहा जा सकता है और फिर वह पक्षी—कहीं उड़ गया वह तो ?

## ९६-रीझ

'कनूँ! तू इसे सखा बनायेगा ?' आज एक नवीन गोपकुमार आया है। कहीं पासके गाँवका होगा। बेचारा संकुचित हो रहा है। दाऊने अपने छोटे भाईको उसकी ओर आकर्षित कर दिया और इतना ही तो बहुत है।

'हाँ, हाँ !' कन्हाई तो सदा उत्सुक रहता है किसीसे भी मित्रता करनेको। कोई भी, कैसा भी—इसे तो बस, मित्र चाहिये। यह झटसे पहुँच गया है उसके पास और उसका हाथ पकड़ लिया है इसने। 'तू मुझसे लड़ेगा तो नहीं ? लड़ेगा तो मैं भी लड़ूँगा और झगड़ेगा तो चिढ़ाऊँगा।'

न नाम पूछा इसने और न गाँव, लग गया उसे परिचित बनानेमें।

'श्याम, यह कुछ बलवान् तो दीखता नहीं।' एक सखाने कहा।

'तुम सब मुझे पटक देते हो, मैं इसके साथ मल्लयुद्ध किया करूँगा।' कृष्णचन्द्रको सब अनुकूलता ही दीखती है।

'कहीं यह घमंडी निकला तो?' एक औरने शङ्का की। 'बड़ा मजा आयेगा इसे चिढ़ानेमें।' कन्हाईको अब कोई त्रुटि मैत्री करनेसे रोक नहीं सकती।

'तू तनिक ठहर तो।' एक बुद्धिमान् सखा समझा रहा है—'हम सब पता लगा लें कि इसमें कोई दोष तो नहीं।' 'क्यों रे, तू कहाँ रहता है?'

'तुम सब मुझमें ही क्या कम दोष बताते हो?' श्यामसुन्दर सदा यही समझता है कि जैसे ये बालक और गोपियाँ उसे झूठ-मूठ दोष लगाती हैं, वैसे ही लोग दूसरोंको भी व्यर्थ ही दोष दिया करते हैं। वह किसी नये सखाको तंग नहीं करने देगा।' तू मेरे साथ नाच। नाचना आता है तुझे?'

उसे नाचना आता हो या न आता हो, कन्हाई तो सिखानेवाला है ही। गोपबालक श्यामसे दो पद आगे हैं। सब घुल-मिल जाना चाहते हैं उसके साथ। यह तो कनूँको चिढ़ानेके लिये उसकी परीक्षा लेनेकी चर्चा उठायी थी उन्होंने।

'यह मोटा तो खूब है।' बालक हँस रहे हैं।

'मुझे पीठपर ढोयेगा यह।' श्यामको गुण-ही-गुण दीखते हैं उसके।

'दादा! तू इसे छाक खिला।' अब वह कितना भी संकोच करे, न यह मयूरमुकुटी माननेवाला है और न उसका यह दादा ही।

'अच्छा सखा मिला है तुझे।' यह दाऊ विचित्र ही है। इसे अपनोंके गुण-ही-गुण दीखते हैं। किसीको अपनाकर यह उसके दोष देखना जानता ही नहीं और उसका यह अनुज—यह तो दोषोंको भी गुण देखता है। उन दोषोंको भी अपने आनन्दका साधन मानता है। इसकी यह रीझ—किंतु यह तो स्वयं रीझ-ही-रीझ है। दोनों भाई दो ओर बैठ गये हैं और अब ये छीकेके पदार्थ—नये सखाका भोजन किये बिना छुटकारा नहीं।

### ९७-दीनबन्धु

'दादा! यह कौन है?' गो-चारणसे लौटते ही श्यामकी दृष्टि मार्गमें खड़े एक भिक्षुकपर पड़ गयी है और अब गायोंको गोष्ठमें पहुँचाना भूल गया है यह।

कोई भिक्षुक—आज इस भाग्यहीनके जन्म-जन्मान्तरके सारे पुण्य एक साथ जग गये हैं। आज यह नन्दगाँव आया है। अभी-अभी ही आया है यहाँ। अभी किसी द्वारपर पुकारतक नहीं सका है। एक अद्भुत स्वर कानोंमें पड़ा और मार्गमें मूर्ति-सा खड़ा रह गया। कौन है इस अमृत-ध्वनिका विस्तार करनेवाला? और जब वह अधरोंपर मुरली धरे चिर-चपल गायोंके पीछे, सखाओंसे घिरा, अग्रजके साथ झूमता-सा आता दिखायी पड़ा—भिक्षुक जैसे भूल गया है कि वह कौन है और कहाँ है।

'मैली-फटी कटिमें कछनी, कंधेपर एक चिथड़ा, हाथमें एक टेढ़ी-मेढ़ी लठिया। शरीरकी नस-नस दीख रही है। हड्डी-हड्डी गिनी जा सकती है इसकी। इतना दुर्बल भी मनुष्य होता है? श्याम इसे देखते ही चौंक गया है।

'तू कौन है?' दाऊ पास आकर हाथ पकड़कर झकझोर-कर पूछ रहा है। यह बोलता क्यों नहीं? यह तो रो रहा है, रोता ही जा रहा है।

'किसने मारा है तुझे? तू रो मत। दादा उसे मारेगा।' श्यामसुन्दर अपने पटुकेसे आँसू पोंछ रहा है उसके।

'तेरी मैया कहाँ है?' दाऊको एक विचित्र बात सूझी है। यह अपने घरसे भाग आया होगा। भला, मैया पास होती तो इसके कपड़े इतने मैले और फटे कैसे रहते?

'तेरे बाबाने मारा है?' कन्हाई आँसू पोंछता ही जा रहा है उसके।

'मेरी मैया और बाबा नहीं हैं। वे भगवान्के घर चले गये।' बूढ़ेको इन बालकोंके भोलेपनपर हँसी आ गयी।

'मैया नहीं है और बाबा भी नहीं?' कृष्णचन्द्र आश्चर्यमें पड़ गया है। 'ओह, कितनी बुरी बात है। बिना मैया-बाबाके बेचारा कैसे रहता होगा।'

'तू हमारे घर चल। भूख लगी है न तुझे? मैया नहीं तो खिलायेगा कौन? भूखा तो यह होगा ही।' दाऊने अपना नीला पटुका उसके कंधेपर डाल दिया है।

'तेरी कछनी फट गयी है। तू मेरा पटुका पहन।' श्यामसुन्दर हठ कर रहा है। 'मेरी मैया तुझे मारेगी नहीं। तू पहन इसे।'

हका-बका हो रहा है भिक्षुक और ये व्रजराज आ रहे हैं। ये भिक्षुकसे राम-श्यामकी बात मान लेनेका अनुरोध कर रहे हैं और ये दोनों भाई उसे हाथ पकड़कर खींचे लिये जा रहे हैं घरकी ओर।

## भक्त-गाथा

### भक्त कृपासिन्धुदास

पश्चिममें लीलावनीपुर नामक एक गाँव था। कृपासिन्धुदास इसी गाँवमें निवास करते थे। विष्णुभक्ति-परायण कृपासिन्धुके घर किसी बातकी कमी नहीं थी। उनके तीन पुत्र थे, दो कन्याएँ थीं। कृपासिन्धुकी पत्नीका नाम था श्रद्धावती। अपनेको स्वामीकी सेवामें लगाकर उसने अपने इस पितृदत्त नामको चरितार्थ कर दिया था। जीवमात्रके प्रति दया करनेवाले ये ब्राह्मणदम्पति साधुसङ्ग, हरिकथा और पुराणश्रवणमें अपना जीवन बिताते थे। प्राणपणसे सत्यका पालन करते थे। असत्-संसर्गका सर्वतोभावेन त्याग करके वे अपने जीवनको सर्वथा सन्मार्गपर चलाते थे। साधु, ब्राह्मण, वैष्णव—कोई भी उनके घरसे विमुख नहीं लौटता था। वस्त्र, भोजन आदि पदार्थोंके द्वारा कृपासिन्धु सदा-सर्वदा याचकका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये प्रस्तुत रहते थे। इसीलिये लोग उन्हें धन्य-धन्य कहते। यद्यपि वे निःस्पृह थे, उनमें भोगासक्ति नहीं थी, फिर भी गरीबों, असहायोंको यथेच्छ दान करनेकी इच्छासे उनकी धनोपार्जन तथा धन-संग्रहमें कुछ आसक्ति-सी होने लगी। सदिच्छा या सदुपयोगके लिये ही क्यों न हो, धनासक्ति प्रभुसे विमुख करानेवाली होती है। साथ ही बालकोंमें भी उनका मोह बढ़ रहा था, अतः उनकी धनासक्ति तथा मोहका सर्वथा नाश करनेके लिये मङ्गलमय प्रभुके मङ्गलविधानने विचित्र परिस्थिति उत्पन्न कर दी। एकके-बाद-एक उनके पाँचों पुत्र-कन्या कालके ग्रास बन गये। धन-सम्पत्ति भी घटने लगी। इससे इनके प्रति उनके जीवनका आकर्षण दूर हो गया। कुछ लोगोंने मिलकर उनका सब कुछ हड़प लिया। वे सर्वथा अकिञ्चन हो गये। अकिञ्चनप्रिय भगवान्‌ने स्वयं उनका वित्त बननेके लिये यह व्यवस्था की। इसीसे तो भगवान् 'अकिञ्चन-वित्त' कहलाते हैं।

इतना सब होनेपर भी कृपासिन्धुदासका भाव बदलना तो दूर रहा, उनमें प्रभु-भक्ति और भी दृढ़ हो गयी। उन्होंने मन-ही-मन कहा—'भगवान्‌ने बड़ी कृपा की, जो हमें धनासक्ति और ममता-मोहसे छुड़ा दिया। अब तो भजनके सिवा और कुछ करना ही नहीं है।' यों सोचकर कृपासिन्धु विशेष उत्साहके साथ अक्षुब्ध अन्तरसे रात-दिन श्रीहरिके भजनमें ही संलग्न रहने लगे। घरका बचा-खुचा सब अतिथिसेवामें लगने लगा। कुछ ही समयमें वे सर्वथा असहाय हो गये। घरमें जो कुछ पीतल-काँसीके बर्तन थे, उन्हें भी बेचकर अतिथिसेवामें लगा दिया गया। अब न पहननेको वस्त्र रहा न कोई वस्तु रही। चारों ओर 'नहीं-नहीं' रह गया।

एक दिन दुखी होकर ब्राह्मणीने कहा—'स्वामिन्! इस अवस्थामें आप न तो कुछ काम ही कर सकते हैं न भीख माँगना ही आपके लिये सम्भव है; फिर उदर-पूर्तिका काम कैसे चलेगा? अब तो केवल मृत्यु ही सामने दीख रही है।'

ब्राह्मणने कहा—'भगवान्‌के मङ्गलविधानके अनुसार जो कुछ होना है, वही होगा; तुम चिन्ता क्यों करती हो?'

ब्राह्मणीने जरा रुष्ट होकर कहा—'आपकी तो बस, यही एक रट है; परंतु पेटमें कुछ भी नहीं पहुँचेगा तो प्राण कैसे बचेंगे? इसकी तो कुछ-न-कुछ व्यवस्था करनी ही पड़ेगी।'

ब्राह्मणने कुछ देर सोचकर कहा—'तुम्हारा यही आग्रह है तो अच्छी बात है, मैं पुरी जाऊँगा। वहाँ मेरा एक आढ़ती है। उसमें हमारे बहुत रुपये पावने हैं। मुझे अबतक उसकी याद ही नहीं आयी थी। उसके पास रुपये भी हैं। वह यदि हमारे पावने रुपयोंमेंसे

कुछ हिस्सा भी दे देगा तो हम दो प्राणियोंके दिन मजेमें कट जायँगे । मैं पाँच-सात दिनोंमें ही लौट आऊँगा, परंतु तुम्हें एक काम करना होगा । कहींसे माँग-जाँचकर कुछ आटा उधार लाओ । उसकी दसेक रोटियाँ बना लो । कुछ मुझे दे दो और कुछ अपने लिये रख लो तो काम चल जायगा ।'

श्रद्धावती पतिकी आज्ञा शिरोधार्यकर आटा उधार लाने चल दी । एक बन्धुके घर जाकर उसने सारी सच्ची परिस्थिति सुना दी । बन्धुकी घरवालीने उसे आटा दे दिया । वह लेकर घर लौट आयी । कृपासिन्धुने कहा—'तुम रोटी बनाओ । मैं कल सबेरे ही पुरीकी ओर चल दूँगा ।'

पतिकी यह बात सुनकर श्रद्धावतीने कहा—'स्वामिन् ! मैं तो छायाकी भाँति सदा आपके साथ रही हूँ, आज मुझे अकेली छोड़कर आप क्यों जाना चाहते हैं ? आपके बिना मैं कैसे रहूँगी ?' वह यों कह रही थी और उसकी आँखोंसे आँसू झर रहे थे । यह देखकर कृपासिन्धुके मनमें करुणा छा गयी । उन्होंने मधुर वाणीसे कहा—'प्रिये ! तुम इतनी अधीर क्यों हो रही हो ? हम सभीके एकमात्र बन्धु भगवान् हैं । वे ही हम सबकी चिन्ता करते हैं । वे सदा सर्वत्र हैं । वे ही हमारे परम आश्रय हैं । तुम निश्चयपूर्वक अपनेको उनकी देख-रेखमें समझो । जरा भी घबराओ नहीं । जाओ, रोटी बनाओ ।'

श्रद्धा उठकर रसोईघरमें चली गयी और आग जलाकर रोटी बनानेकी तैयारी करने लगी ।

इसी बीच किसीने दरवाजा खटखटाया । श्रद्धाने उठकर किवाड़ खोले । देखा, एक साधु पधारे हैं । सिरपर जटा है, शरीरपर भस्म लगी है, ललाटपर तिलक है, गलेमें तुलसीकी माला है, कटिमें कौपीन है । हाथमें एक ताँबेका कमण्डलु है । मानो साक्षात् शंकर ही आ गये हैं । शरीर अत्यन्त दुर्बल है, वृद्ध वय है । शरीरकी एक-एक नस दीख रही है, पेट-पीठ एक हो रहे हैं । बैठने-उठनेमें भी कष्ट होता है । शरीर इतना क्षीण होनेपर भी उनका रूप अत्यन्त ज्योतिर्मय है ।

श्रद्धावतीने दौड़कर पतिको बताया कि दरवाजेपर अतिथि पधारे हैं । कृपासिन्धुको यह सुनकर बड़ा ही आनन्द हुआ । वे दौड़े आये अतिथिकी अभ्यर्थनाके लिये । द्वारपर समुपस्थित उस तेजोमय मूर्तिको देखकर कृपासिन्धुका हृदय श्रद्धासे भर गया । उन्होंने प्रणाम किया और बड़े सम्मानके साथ उन्हें अंदर लाकर आसनपर विराजित किया । कृपासिन्धुने कहा—'महाराज ! आज्ञा कीजिये, मैं आपके संतोषके लिये क्या करूँ ?' साधुने कहा—'भक्तवर ! मैं बहुत दूरसे तुम्हारी गुणावली सुनता आ रहा हूँ । इस देशमें शायद तुम-जैसा उदार दाता और कोई नहीं है । यह सुनकर मैं तुम्हें देखने आ गया । तीन दिनोंसे कुछ भी खाया नहीं है । सबसे पहली बात यही है कि मैं बड़ा ही भूखा हूँ । अब कुछ खाये बिना मुझसे बोला भी नहीं जाता । हो सके तो मुझे कुछ खानेको दो; नहीं तो अन्यत्र कहीं जाकर चेष्टा करूँ ।'

कृपासिन्धुने कहा—'आप-सरीखे अतिथिको संतुष्ट करनेयोग्य मेरे पास क्या है । पर जो कुछ है, जो कुछ दे सकूँ, उसे अनुग्रह करके ग्रहण कीजियेगा । जरा ठहरिये, मैं अभी व्यवस्था करता हूँ ।' इतना कहकर कृपासिन्धुने अंदर जाकर गृहिणीसे कहा कि 'अतिथिको इसी समय भोजन कराना होगा ।' कृपासिन्धुका आज ही बाहर जानेका विचार है । उसे साथ ले जानेको चाहिये और घरमें पत्नीके लिये भी कुछ छोड़ जाना है । पतिको इस चिन्तामें देखकर ब्राह्मणीने कहा—'आप चिन्ता न करें । आप अपने साथ कुछ ले जाइयेगा । आपके लौटनेतक मैं जल पीकर ही प्राण बचा लूँगी । आप मेरा हिस्सा

अतिथिको खिला दीजिये। इसके लिये जरा भी घबरायें नहीं। और बात पीछे, पहले अतिथिसेवा कीजिये।' कृपासिन्धुने मूर्तिमान् श्रद्धावती पत्नीकी बात सुनकर कहा, 'धन्य हो तुम, देवी! जहाँ तुम्हारी-जैसी उदारता और सहिष्णुता है, वहाँ क्या कभी कोई दुःख रह सकता है।'

अतिथिके लिये आसन बिछा दिया गया। वे उसपर आकर बैठ गये। भक्तने उनके चरण धोये और चरणोदकको मस्तकपर धारण किया तथा घरमें सब ओर छिड़क दिया। इनका ऐसा विश्वास था कि साक्षात् भगवान् ही अतिथिके रूपमें उनके घर पधारे हैं। रोटी परोसी जाती है, पर अतिथिका पेट नहीं भरता। दो-दो रोटियाँ दी जाती हैं, साधु तुरंत उनको चट करके खाली थाली लिये बैठे रहते हैं फिर रोटी पानेके लिये। छः रोटियाँ वे खा चुके हैं। अन्तर्यामी अतिथि जानते हैं कि अब केवल चार ही रोटियाँ और बची हैं। अतिथि आज नहीं जायँगे। उन्होंने कहा—'रातको यहीं खा-पीकर कल सबेरे जाऊँगा।' इतना कहकर अतिथिनारायण आसनसे उठे और हाथ-मुँह धोकर बोले—'आज इस शुद्ध आहारसे हमारी बड़ी ही तृप्ति हुई।'

कृपासिन्धुने पत्नीसे परामर्श किया—'बड़े भाग्यसे अतिथिसेवा प्राप्त होती है। न रहे हमारे घरमें एक दाना; जहाँतक होगा अतिथिसेवासे हम किसी भी तरह विमुख न होंगे। देखो न, साधु कितने दुर्बल हैं, कहीं भी जानेकी इनमें शक्ति नहीं है। हमलोगोंकी अच्छी स्थिति होती, तब तो इनको कुछ दिन और यहीं रखते, कहीं जाने ही न देते। कोई बात नहीं, हमलोग उपवास कर लेंगे, पर अतिथिको किसी तरह असंतोष नहीं होना चाहिये।'

बातों-ही-बातोंमें संध्या हो गयी। संध्याके बाद साधु भोजन करने बैठे। एक-एक करके चारो रोटियाँ परोस दी गयीं। सरल श्रद्धायुक्त हृदयसे दी हुई रोटी प्रेमपूर्वक साधुने पा ली और उठकर आचमन किया। साधारण-से बिछौनेपर सोकर साधु महाराज सोचने लगे—'अतिथि-सेवापरायण इस निष्कपट भक्त-दम्पतिका जीवन धन्य है। अपने भोजनकी जरा भी चिन्ता इन्हें नहीं है। स्वयं उपवासी रहकर अतिथिको सब कुछ दे देना सहज बात नहीं है। अब पूरी परीक्षा हो चुकी।'

इधर कृपासिन्धु पत्नीसे कह रहे हैं—'हमारा महान् भाग्य था जो हम अतिथिको दोनों समय भोजन करा सके। बड़ा ही आनन्द मिला। घरमें तो कुछ था ही नहीं; तुम आटा उधार लायी थी, तभी तो अतिथि-सेवा हुई। जिसके घर तुम-जैसी धर्मपत्नी हो, वह महान् भाग्यवान् है। तुमने निज-सुखको कभी बड़ा नहीं माना। साधु-महात्माओंकी सेवासे ही हमारा जीवन उन्नत होगा।' यों कृपासिन्धु कह ही रहे थे कि अकस्मात् उनके सामने महान् प्रकाश हो गया और एक उज्ज्वल प्रकाशपुञ्जस्वरूप दिखायी दिया। वे दुर्बल कृशकाय साधु अतिथि ही अपूर्वदर्शन भगवत्स्वरूपमें बदलकर सामने उपस्थित हो गये। कृपासिन्धु और उनकी पत्नी श्रद्धावती दोनो आश्चर्यचकित और आनन्दविह्वल होकर भक्तिपूर्ण हृदयसे उनके चरणोंमें भूमिपर लोट गये। उन करुण देवताने हँसकर कहा—'तुम्हारी अकपट अतिथि-सेवा, तुम्हारी सुदृढ़ भक्ति-भावनासे मैं अत्यन्त संतुष्ट हूँ। तुम्हें कहीं जानेकी आवश्यकता नहीं है। तुम्हारा घर, जबतक तुम जीओगे, खाद्य पदार्थोंसे भरा रहेगा। तुम्हारी अतिथि-सेवा अविरल चलती रहेगी और तुम्हें मेरी पराभक्ति प्राप्त होगी।' यों कहकर वे अपरिचित अतिथि-देवता तुरंत अन्तर्धान हो गये। ब्राह्मणदम्पतिका जीवन धन्य हो गया।*

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

---

* 'प्राणगौर' से साभार।

# एक मानसिक व्यथा—निराकरणके उपाय

( लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी० )

एक सज्जन लिखते हैं, 'मेरा एक अभिन्न-हृदय सखा बहुत दिनोंसे उद्विग्न-सा रहता था। एक दिन मैंने उससे एकान्तमें पूछा, मित्रवर ! मैं तुम्हें चिरकालसे उदासीन-मुख तथा कुछ चिन्तित-सा देख रहा हूँ। यदि कोई मानसिक व्यथा हो और उसे बतानेमें कोई आपत्ति न हो तो इसका रहस्य बताकर मेरा कौतूहल अवश्य दूर कीजिये।'

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्येऽनुवर्तिनि कलत्रे।
स्वामिनि शक्तिसमेते निवेद्य दुःखं सुखी भवति॥

उसने अपनी व्यथा-गाथा सुनाते हुए कहा:—'गत दो वर्षोंसे मेरा एक जीव-विशेष ( सम्भवतः किसी नारी ) से प्रेम था; वह प्रेम मोहमें, मोह आसक्तिमें परिणत हो गया। फलतः उसके देखे बिना चित्तमें चैन नहीं आता था। कभी-कभी उसके न मिलनेपर मैं मन-ही-मन रो उठता था और मानसिक अशान्ति इतनी बढ़ जाती थी कि मैं आत्महत्या-तकके लिये उद्यत हो जाता था। अन्ततोगत्वा चारों ओरसे निराश हो गया·········अब मेरा उस दुःखद व्यक्तिके साथ वार्तालाप और लगाव छूट गया है। मैं नहीं चाहता कि उससे मिलूँ; सम्पर्क बढ़ाऊँ और नैतिक मर्यादाएँ तोड़-कर यों अशान्त रहूँ। अपनी ओरसे मैं यह प्रयत्न करता रहता हूँ कि उसके अशुभ दर्शन न हों, जिससे मेरा मन फिर उधर दौड़े। पर मैं एक विचित्र मानसिक स्थितिमें हूँ। गत दो वर्षोंसे उस स्मृतिने मुझे महान् मानसिक रोगसे पीड़ित कर रखा है। मैं स्वयं इस अज्ञानजन्य क्लेशके कारण ऐसा घृणित जीवन बिताता रहा हूँ। बहुत प्रयत्न करता हूँ कि किसी प्रकार यह गुप्त बन्धन छूट जाय; फिर भी साधारणतया उस दुःखप्रद व्यक्तिका स्मरण हो आता है तो मेरा ध्यान बरबस उस ओर चला जाता है। ऐसा क्यों हो रहा है? मैं कैसे इस मानसिक व्यथासे मुक्त हो सकता हूँ? आपका मनोविज्ञान और धर्म क्या मुझे इस अशान्तिसे किसी प्रकार मुक्त कर सकते हैं? दिनमें चलते-फिरते, उठते-बैठते तो मनका संतुलन ठीक रहता है, चित्तवृत्ति शान्त रहती है; परंतु संध्योपासनके समय मनमें अवाञ्छनीय विचारधाराका प्रबल आक्रमण क्योंकर होता है? इस विषयमें आपका सत्परामर्श अपेक्षित है। कुछ उपाय बतलाइयेगा?'

·······························

मनुष्यके मनके दो भाग हैं—एक बहिर्मन, दूसरा गुप्त मन। जो बात हमारे गुप्त मनमें दृढ़तासे एक बार पैठ जाती है, वह उसे मजबूतीसे पकड़ लेता है। बहिर्मन हमारी चेतनावस्थामें हमारे शरीर और संकल्पको प्रभावित करता है। जब हम दिनमें चलते-फिरते रहते या काम करते रहते हैं, तब हमारा बहिर्मन हमारे इच्छानुसार कार्य करता रहता है; परंतु हमारी प्रसुप्त वासनाएँ चुपचाप गुप्त मनमें बैठी-बैठी शरीरपर अपना अधिकार जमानेकी बाट देखा करती हैं। जब निद्रावस्थामें बहिर्मनका प्रभाव शिथिल हो जाता है, तब अव्यक्त या गुप्त वासनाएँ चेतनाके स्तरपर आ जाती हैं और शरीरको अपनी ओर ले जाती हैं। गुप्त और अव्यक्त भावनाओंका विवेकके साथ द्वन्द्व होता रहता है। इससे मानसिक संतुलन ठीक नहीं रहता। चित्तवृत्ति अशान्त रहती है। व्यक्त और अव्यक्त वासनाओं और विवेकका द्वन्द्व ही मानसिक रोग है। जबतक गुप्त मनमें बैठी हुई अनैतिक वासनाएँ या प्रसुप्त—गुप्त इच्छाएँ तृप्त नहीं होतीं या उन्हें विवेक-बुद्धिके द्वारा उचित मार्ग-निर्देश नहीं होता, तबतक मानसिक संतुलन स्थिर नहीं रह सकता। व्यक्त और अव्यक्त मन तथा इच्छाओंके पूर्ण-मतैक्य ( Harmony ) का नाम ही आनन्द या मोक्ष है। इस अवस्थामें आत्मा पूर्ण तृप्त रहती है। जिस अनुपातमें ये दोनो मन संतुलित रहते हैं, उसी अनुपातमें तृप्ति या आनन्द रहता है।

उपर्युक्त मानसिक रोगीके गुप्त मनमें किसी व्यक्ति-विशेष, सम्भवतः किसी नारीके प्रति वासनामूलक आकर्षण था। समाजके नैतिक नियन्त्रण और लोकलाजके भयसे बहिर्मन उसे बुरा-बुरा कहता रहा, पर गुप्त मनमें प्रेमभावना मजबूतीसे जड़ पकड़ गयी। यह अतृप्त या अपूर्ण वासना दबकर गुप्त मनमें एक वासनाग्रन्थि ( Complex ) बन गयी, दबकर कोई भी वासना अधिक दिनतक काबूमें नहीं रह सकती। वह परितृप्तिका मौका ढूँढ़ती रहती है। रात्रिमें जब बाह्य मन सो जाता है, तब अव्यक्त वासनाएँ चेतनाके स्तरपर आकर शरीरको उसी ओर खींचती हैं। उपर्युक्त रोगीका बाह्य मन सामाजिक और नैतिक पतनके विचारसे अव्यक्त वासनाको दबाता है, पर गुप्त मन अवसर पाकर शान्ति पानेके लिये अपयशका विचार न करके, फिर अपने व्यक्तिविशेषकी ओर दौड़ता है। जबतक गुप्त मनकी इन दबी हुई अतृप्त वासनाओंका रूपान्तर नहीं हो जाता या उनकी गतिकी दिशा

नहीं बदल दी जाती, तबतक मानसिक रोग बना ही रहेगा। यही अवस्था अनेक व्यक्तियों, बड़े-बड़े कवियों, लेखकों, सैनिकोंकी हुई है। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास आदिने अपनी वासनाओंको भक्ति, ज्ञान, काव्य, साहित्यके रूपमें बदल दिया अर्थात् नया रूपान्तर दे दिया। इस रूपान्तरसे वासनाओंको एक स्वस्थ दिशामें प्रवाहित होनेका मौका मिला। ये व्यक्ति स्वस्थ भी हो गये और संसारके ज्ञानभंडारमें भी वृद्धि हुई। वासनाओंका रूपान्तर(Sex-transmutation) वह उपाय है, जिसके द्वारा अव्यक्त या प्रसुप्त वासनाओंका द्वन्द्व दूर कर उन्हें चरितार्थ होनेकी एक नयी स्वस्थ दिशा प्रदान की जा सकती है। तभी दबी हुई मानसिक रोग उत्पन्न करनेवाली वासनाको उपयोगी बनाया जा सकता है। स्वस्थ और आनन्दित रहनेके लिये यह आवश्यक है कि मन दुर्वासनाओंसे मुक्त रहे और विवेकरहित गंदी विचारधाराओंका उसमें प्रवेश ही न हो।

अतः इस लेखमें वर्णित रोगीको आरोग्य और आनन्दमय जीवन बनाने और मानसिक रोगसे बचनेके लिये निम्न सुझाव दिये गये—

**१—स्थानपरिवर्तन—**

प्रत्येक विचार या वासनाका सम्बन्ध स्थान-विशेषसे होता है। एक विशेष स्थानमें रहनेसे हमारे मनमें एक विशेष प्रकारकी इच्छाएँ पैदा होती हैं। स्थानके इर्द-गिर्द एक प्रकारके विचारोंका गुप्त वातावरण छाया रहता है। मन्दिरमें जानेसे पवित्र विचारोंका प्रवाह स्वतः आने लगता है। इसके विपरीत दूषित स्थानोंमें एक बार गुजरनेमात्रसे मन गंदी वासनाओंसे भर जाता है। अतः उपर्युक्त रोगीको यह सलाह दी गयी कि वे उस व्यक्तिविशेषसे सम्बन्धित स्थानका परित्याग करके किसी रमणीय धार्मिक स्थान, तीर्थस्थान या प्रकृतिके रमणीय प्राङ्गणमें स्थित किसी सुरम्य वाटिकामें निवास करें। नये स्थानकी नयी परिस्थितियोंमें नये-नये स्वस्थ विचार उत्पन्न होंगे। गंदी वासनाएँ फीकी पड़ जायँगी। भोग-भावना कम होगी। यज्ञ तथा विद्वानोंके भाषणोंसे पवित्र की हुई भूमिमें उत्तम और पवित्र विचार ही उत्पन्न होते हैं। कुछ वर्ष दूसरे स्थानमें इस प्रकार निवास करनेसे मानसिक संस्थान नये रूपमें बनने लगता है। पुरानी वासनाएँ फीकी पड़कर उनके स्थानपर नयी भाव-भूमिका निर्माण होता है।

**२—नये स्वस्थ विरोधी विचारोंका विकास—**

जिस गंदे विचार या वासनाको दूर करना है, उसे दबानेके स्थानपर उसके विरोधी शुभ भाव या विचार विकसित करने चाहिये। क्रोधको दूर करनेके लिये प्रेम और शान्त भावोंका विकास करना चाहिये। इसी प्रकार अति उत्तेजक वासनासे सताये हुए व्यक्तिको वैराग्य और ईश्वरके प्रति भक्ति-भावनाके पवित्र भावोंकी वृद्धि करनी चाहिये। शोक-विषादको मिटानेके लिये भगवान्‌के आनन्दमयरूपका ध्यान करके सर्वत्र आनन्दकी भावना करनी चाहिये। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, विवेकके शुभ विचारोंमें निरन्तर रमण करने, पुनः-पुनः उन्हें मनमें भरे रखने और वैसे ही विचारोंमें अधिक समय बितानेसे व्यक्तित्वके इस अङ्गका धीरे-धीरे विकास होने लगता है और वासनाओं या तुच्छ इच्छाओंका प्रभाव क्षीण हो जाता है। तुलसीदासजीने भक्तिका मार्ग ही पकड़ा था। अपने आराध्य रामकी भक्तिमें वे इतने तन्मय हो गये थे कि उसकी आसुरी वासनाएँ दग्ध हो गयीं। भक्तिका प्रकाश उनके मनमें फैल गया। उन्हें प्रतीत हुआ कि 'असली सुख, शान्ति और भक्तिका भंडार तो राम है और वे राम आत्माके रूपमें मेरे भीतर ही विराजमान हैं। प्रेम, भक्ति, दया और करुणाके प्रतीक राममें वे ओतप्रोत हो गये। वासनाका कल्मष बह गया। स्वच्छ निर्लेप आत्मा अपने सत्-चित्-आनन्दरूपमें निखर आयी। विषय-सुखकी निस्सारता प्रकट हो गयी।

**३—स्वस्थ मानसिक जीवन-निर्माणके संकेत या सजेशन—**

नये संस्कारोंका निर्माण संकेत-पद्धति ( System of Auto-Suggestion ) से होता है। रोगीको नये स्वस्थ संकेत अपने गुप्त मनको बार-बार देने पड़ते हैं। रोगी पूर्ण निष्ठा और विश्वासपूर्वक शान्तचित्तसे कुछ स्वस्थ विचारोंको मुँहसे उच्चारण करता है, बार-बार उनके निगूढ़ अर्थोंपर विचार करता है और उनमें इतना तन्मय हो जाता है कि वे अन्तमें उसके गुप्त मनका भाग बनने लगते हैं। उपर्युक्त रोगीको प्रतिदिन सायं और शयनसे पूर्व ये संकेत अपने गुप्त मनको देनेका आदेश दिया गया—

'मुझे अनुभव हो गया है कि जहाँ वासनाकी कालिमा है, वहाँ शान्ति नहीं है। जहाँ विवेकका राज्य है, वहाँ वासना कैसे ठहर सकती है। इसलिये मैं वासनासे चिपटा नहीं रहता। मेरे मनमें अब शान्ति और संतुलन आ रहा है। जहाँ शान्ति और संतुलन है, उस जगह वासना कदापि नहीं ठहर सकती। जब ज्ञानका प्रकाश हो रहा है, तब वासनाका अन्धकार कैसे ठहर सकेगा।

'वासनासम्बन्धी कलुषित विचारोंका मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं तो विवेकशील, शान्त, स्थिरचित्त आत्मा

हूँ। अपवित्र और कुत्सित वासनाके विचार मुझे अपने मायाजालमें नहीं फँसा सकते।

'मेरा हृदय वासनारहित है। मैं निर्विकार हूँ। हाड़-माँस, मल-मूत्रके शरीरमें मुझे अब आकर्षण नहीं दीखता। मैं तो इन विकारोंपर दृढ़ नियन्त्रण रखता हूँ। दुष्ट विचार मुझे मेरे उच्च सात्त्विक मार्गसे विचलित नहीं कर सकते।

'मुझे विवेक हो गया है कि वासनाओंके बढ़ाने और तृप्त करनेमें परम सुखकी प्राप्ति नहीं होती। मैं तुच्छ विकारोंका दास नहीं हूँ। क्षणभङ्गुर पदार्थोंके पीछे अब मैं नहीं छटपटाता फिरता हूँ। सांसारिक भोग-विलासकी वासनाके स्थानपर मुझे आध्यात्मिक सम्पत्तिमें अधिक सुखका अनुभव होता है।'

प्रतिदिन प्रातः अथवा सायंकाल एकान्त स्थानमें शान्त-चित्त हो नेत्र मूँदकर बैठ जाइये और शरीर तथा मनको शिथिलकर सब विचारोंको हटाकर उपर्युक्त भावनामें दस मिनिट चित्तको एकाग्र कीजिये। इस प्रकारका अभ्यास करनेसे मन स्वस्थ दिशामें लगता है और क्षुद्र वासनासे मुक्ति मिल जाती है।

### ४—गीताजीके वचनामृतका पान

श्रीगीताजीकी शरणमें जाने और निरन्तर मनोयोग-पूर्वक श्रीमद्भगवद्गीताका स्वाध्याय करनेसे प्रबल मानसिक रोग शान्त हो जाते हैं और मनमें शान्तिका प्रादुर्भाव होता है। गीता नैतिक पतनसे रक्षा करनेवाली माता है। श्री-गीताके निम्न श्लोकोंको बार-बार पढ़ना और उनके अर्थपर विचार करना चाहिये। ये श्लोक रामबाणके समान प्रत्यक्ष चमत्कार दिखानेवाले हैं। इन्हें पुनः-पुनः रटना चाहिये, यहाँतक कि ये मानसिक संस्थानका एक अङ्ग बन जायँ—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
(२।६२)

अर्थात् विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है और आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(२।६३)

क्रोधसे अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है और अविवेकसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है। फिर बुद्धि—ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है। बुद्धि नाश होनेसे वह पुरुष अपने श्रेयःसाधनसे गिर जाता है।

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(६।२४–२६)

अर्थात् मनुष्यको चाहिये कि संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे अर्थात् वासना और आसक्तिसहित त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सब ओरसे अच्छी तरह वशमें करके क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ वैराग्यको प्राप्त हो। धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें स्थिर करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे। परंतु जिसका मन वशमें न हुआ हो, उसे चाहिये कि वह स्थिर न रहनेवाला चञ्चल मन जिस कारणसे सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है, उस-उससे मनको रोककर बारंबार परमात्मामें ही निरुद्ध करे।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(९।३०)

तथा—

विषयेन्द्रियसंयोगात् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
(१८।३८)

इन श्लोकोंके अर्थका स्वाध्याय, मनन, चिन्तन करने और श्रद्धा-भक्तिसहित अभ्यास करनेसे विषय-वासनाओंसे मुक्ति मिल जाती है। इनके अक्षर-अक्षरमें परम रहस्य भरा हुआ अनुभव निहित है। इनके अतिरिक्त गायत्री-जपसे भी अन्तःकरण निर्भय, निर्मल और वासनारहित बनता है। उच्च चिन्तन तथा ईश्वरीय शक्तियोंके ध्यानके बलसे ही प्रत्येक ऋषि-मुनिने अध्यात्म-जगत्में उन्नति की है। संसार वैसा ही बन जाता है, जैसा आप दृढ़तासे चिन्तन करते हैं—

The world is what you make it;
The sky is green or blue
Just as your soul may paint it;
It's not the world, it's you.

'आकाश आपको अपने मनकी स्थितिके अनुरूप ही हरा या नीला दिखायी देता है। वास्तवमें परिवर्तन संसारमें नहीं, हमारे मानसिक दृष्टिकोणमें होते रहते हैं। हमारा संसार वैसा ही बन जाता है, जैसा वस्तुतः हम चाहते हैं।'

# क्षमा

( लेखक—श्रीपारसनाथसिंहजी एम्० ए० )

क्षमा एक प्रकारकी चित्तवृत्ति है, जो तितिक्षाके अन्तर्गत मानी गयी है। तितिक्षा सरदी-गरमी आदि सहन करनेकी सामर्थ्यको कहते हैं और क्षमा वह वृत्ति है, जिससे हम दूसरेके द्वारा पहुँचाये गये कष्टको चुपचाप सह लेते हैं और उसके प्रतीकारका प्रयत्न नहीं करते। यह दैवी गुण है मानव-धर्मके दस लक्षणोंमें इसका प्रमुख स्थान है; यह पाशवप्रवृत्तियोंपर अनायास विजय प्राप्त कर लेता है।

क्षमा विश्वके सभी महान् धर्मोंका मेरुदण्ड है। हिंदू-धर्मकी आधारशिला यही क्षमा है। विष्णु और भृगु मुनिके प्रसङ्गको कौन नहीं जानता। क्षमा-धरित्री-सी व्यापक एवं शाश्वत क्षमाका गुण-गान हिंदू-धर्मका मूल राग है। पृथ्वीतलपर मातृत्वसे गौरवमय दूसरा कोई नहीं और इस मातृत्वकी गरिमाका सम्यक् दर्शन क्षमाशीलतामें ही है। बौद्ध-धर्मके भव्य भवनका स्वर्ण-कलश भी यही क्षमा है। विश्वात्मवाद और भूतदयाकी सम्पोषिका क्षमावृत्ति बौद्ध दार्शनिकताका प्राण है। कलिङ्गविजयी अशोककी प्रतिहिंसाका उपशम 'क्षमा'के संकेतपर ही हुआ। यवनदेश, स्वर्णभूमि, सिंहलद्वीप, तिब्बत, चीन आदि प्रशस्त भूभागोंमें क्षमाका एकच्छत्र राज्य शताब्दियोंतक रहा और बौद्ध-धर्मके प्रभावमें सहस्राधिक वर्षोंतक समस्त मानवता क्षमाका सम्बल लेकर ही अपना पथ सुगम बनाती रही। ईसाई धर्मका तो कहना ही नहीं। बाइबल मूलतया क्षमाकी ही गुण-गाथा है। क्षमाके अवतार महात्मा ईसाके अनेक उपदेश दूसरोंके दोषों, अपराधों और त्रुटियोंको स्वेच्छासे सहन कर लेनेका पाठ पढ़ाते हैं। कहनेका तात्पर्य यह कि मानव-संस्कृतिके मौलिक तत्त्वोंमें क्षमाका विशिष्ट स्थान है और मनुष्य-जातिके अबतकके प्रमुख धर्मोंमें इसको अनिवार्य माना गया है।

क्षमाकी प्रकृति द्विविध है। यह दोहरी शक्तिसे सम्पन्न है। यह ढाल भी है और तलवार भी। एक ओर यह विपक्षीका आघात सहन करती है, दूसरी ओर उसे निरस्त्र और पराजित भी करती है।

क्षमा खड्ग लीन्हे रहें, खल कौ कहा बसाय।

कटु वचनसे लेकर विरुद्धाचरण एवं अनिष्ट-साधनतक जितने भी उद्योगजनक कार्य-व्यापार हैं, क्षमा सबको प्रभावशून्य बना देती है। क्रोध, प्रतिहिंसा, द्वेष, ईर्ष्या, अपकार, कृतघ्नता, प्रतारणा आदि समस्त गर्हित मनोवेगों तथा तज्जन्य प्रभावोंका उपशम और निरसन इसके ही द्वारा होता है। यह वह दृढ़ चट्टान है, जिससे टकराकर शतशः दुर्वृत्तियाँ लहरोंकी भाँति चकनाचूर हो जाती हैं। जिस प्रकार क्षमा दुष्ट भावनाओंका दमन करती है, उसी प्रकार अनेक सद्भावनाओंको, जन्म देती है। सहिष्णुता, दया, परोपकार एवं करुणा आदि भाव इसीसे उद्भूत तथा परिपुष्ट होते हैं। यह धृतिकी कसौटी और नैतिक साहसकी धात्री है। सुधांशुकी शीतल किरणोंकी भाँति क्षमाका प्रभाव शान्तिप्रद और व्यापक है। यह वह शीतल उपचार है, जो अनेक मनस्तापोंके लिये महौषधि है—रामबाण है।

क्षमा व्यक्तिका ही विभूषण नहीं, यह समाजके लिये भी वरदानस्वरूप है। इसका सामाजिक मूल्य आँका नहीं जा सकता। यदि प्रत्येक व्यक्ति 'शाइलक'का-सा व्यवहार करने लगे और यदि प्रतिशोधकी ही भावनाका प्रत्येक क्षण बोलबाला रहे तो फिर समाजकी स्थिति ही असम्भव हो जाय। समाज तो एक संविदा है, जहाँ विभिन्न रुचि और सिद्धान्तके लोगोंको एक दूसरेके लिये अपनेको नियन्त्रित करना पड़ता है और यह नियन्त्रण क्षमाका ही पर्याय है। इतिहास इसका साक्षी है कि इसी क्षमा-शक्तिके आवश्यक मात्रामें न होनेसे समाजको अनेक अवाञ्छित धार्मिक विप्लवों, साम्प्रदायिक संघर्षों, राजनीतिक विद्रोहों और आर्थिक संकटोंका सामना करना पड़ा है। गोस्वामी तुलसीदासजीने समाजके धर्मरूपी रथके बल, विवेक, दम और परहित नामक चारों घोड़ोंको परस्पर सम्बद्ध करनेवाली रस्सियोंमें 'क्षमा'को सर्वप्रथम माना है। वस्तुतः अतिवादी प्रकृतिवाले मनुष्यको मध्यम मार्गपर लाने और समाजमें रहनेके योग्य बनानेमें क्षमा-शक्तिकी नितान्त आवश्यकता है।

किंतु क्षमाकी शोभा बलपर ही निर्भर है। बलहीनकी क्षमा विवशताके अतिरिक्त और कुछ नहीं। अशक्त यदि सहनशील न होगा तो करेगा ही क्या। शक्तिशाली होनेपर भी जो दूसरेके प्रतिकूल और अनुचित व्यवहारोंको सहन कर लेता है, वही क्षमाशील है। अंग्रेजीमें एक सूक्ति है—'दानवकी भाँति बलयुक्त होना अच्छा है, किंतु उस बलका प्रयोग दानवकी भाँति करना अच्छा नहीं है।' रावण राममें

कदाचित् कम बलशाली नहीं था, किंतु रामकी भाँति वह शीलवान नहीं था। उसका बल अधर्ममें प्रयुक्त होता था, इसीसे ब्राह्मणकुलमें जन्म लेकर भी वह राक्षस माना गया। वह क्षमा करना तो जानता ही नहीं था, सीताहरण और विभीषणको पाद-प्रहार इसके पर्याप्त उदाहरण हैं; किंतु ऐसे क्षमा-शून्य रावणका अन्त क्या हुआ? सकुल सवैभव विनाश। इसके विपरीत राम ईश्वरके अवतार माने गये। क्षमाके बलपर ही उन्होंने दुर्दान्त परशुरामको नतमस्तक और श्रीहत किया और उनकी क्षमाशीलताने ही कैकेयीका मानसिक परिष्कार किया। निष्कर्ष यह है कि बलहीनकी क्षमा और क्षमाहीनका बल दोनों अशोभन हैं, दोनों विघातक हैं। हाँ, बलसे तात्पर्य केवल शारीरिक बलसे ही नहीं, वरं बौद्धिक और आध्यात्मिक बलसे भी है।

आज संसारको क्षमाकी जितनी आवश्यकता है, कदाचित् ही और कभी रही हो। विज्ञानके कारण मदोन्मत्त मनुष्य आज अपनेको नियन्ता और नियामक समझ बैठा है। फलतः अकाण्ड-ताण्डव कर रहा है। उसके पास हृदय नहीं रह गया है; वह तो बुद्धि—नहीं, दुर्बुद्धिका पुतला और यन्त्र मानव बन गया है। वह आत्मनिरत, आत्मकेन्द्रित, संकीर्ण एवं स्वार्थलिप्त हो दूसरेके प्रति अपने कर्तव्योंको भूल बैठा है। श्वानवृत्तिसे प्रेरित प्रतिहिंसक समाजका परित्राण क्षमाके प्रभावमें ही हो सकता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। यदि हम अपना और समाजका कल्याण चाहते हैं तो हमें एक दूसरेके प्रति अपनी भ्रान्त धारणाओंको मिटाना होगा और समाजके ऊर्ध्वनयनके लिये एक दूसरेकी त्रुटियोंको विस्मृत करना होगा। आइये, 'हम भूल जाओ और क्षमा करो' (forget and forgive) को अपना महामन्त्र बना लें।

---

# कौन किसका है ?

( लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा )

यास्कने ३००० वर्ष पूर्व अपने 'निरुक्त'में लिखा है कि जब सत्ययुगकी समाप्तिपर ऋषिलोग पृथ्वीसे विदा हुए, तब मनुष्योंने देवताओंसे पूछा कि 'अब हमलोगोंका पथ-प्रदर्शन कौन करेगा?' तब उत्तर मिला—'तर्क'।

ऋषिषु उत्क्रामत्सु मनुष्याः देवानब्रुवन् को नः ऋषिः स्यादिति। ते तर्कमृषिं प्रायच्छन्।

जिस तर्ककी इतनी मर्यादा थी, वह आज तर्कके स्थानपर कर्त्त हो गया है, कैंची बन गया है। हम हरेक बातको काटनेका, बिना सोचे ही गलत सिद्ध करनेका प्रयास करते हैं। तर्कद्वारा, मनमें समझ-बूझकर किसी निष्कर्षपर पहुँचनेकी क्रिया हमको निरर्थक प्रतीत होती है। इसीलिये आज मनुष्यका जीवन काफी दुःखमय तथा संकटमय हो गया है। यदि हम बाहरी वस्तुओंसे ज्ञान प्राप्त करनेका कार्य बंद करके अपने चित्तके भीतर बैठकर कुछ सोचने-समझनेका प्रयास करें तो मानव-जीवन सार्थक ही नहीं, सफल भी हो जायगा।

आज पग-पगपर हमको निराशा होती है, जी घबराता है। निराशा तब होती है, जब आशा की जाती है। हमने अपने विषयमें, अपने अहंभावमें ऐसी ऊँची धारणा बना रखी है कि हमारा मन तब बड़ा उदास हो जाता है, जब हमारी इच्छा पूरी नहीं होती। अष्टावक्रने अपनी गीतामें हमको समझाया था कि जो दूसरोंसे आशा करता है, वह संसारका दास हो जाता है—

'ते दासाः सर्वलोकस्य'

पर जो आशाको ही अपनी दासी बना लेता है, यानी जो किसीसे कुछ भी आशा नहीं करता, वह संसारका स्वामी बन जाता है। हम पग-पगपर दूसरोंकी कृपाके आश्रित हैं। मालिककी—स्वामीकी कृपा चाहिये। पत्नी, पुत्र या पतिकी कृपा चाहिये। माता-पिताकी कृपा चाहिये। मित्रोंकी कृपा चाहिये। संसारमें जो कुछ अच्छा दिखायी पड़ता है, वह सब हमको चाहिये। कृपाका भिखारी कभी यह सोचनेका प्रयास नहीं करता कि वह कृपाका पात्र है भी या नहीं। किसी वस्तुकी प्राप्तिका पात्र बननेके लिये तदनुकूल प्रयत्न करना होता है। हम प्रयत्न नहीं करना चाहते, पात्र बनना चाहते हैं।

हम अपने कुटुम्ब या परिवारसे ही नहीं कृपा चाहते या स्नेह माँगते हैं, हमको भगवान्‌से भी बहुत कुछ माँगना है। उससे प्राप्त होनेवाली वस्तुओंकी सूची बहुत लंबी है। हम उसकी पूजा करते हैं, पाठ करते हैं। यही पारिश्रमिक है, जिसे चुकाकर हम उससे बदलेमें अपनी असंख्य होनी

अनहोनी, अच्छी-बुरी माँगें पूरी करना चाहते हैं। पर यदि हमारी माँग पूरी नहीं होती तो हम क्रोधसे उबल पड़ते हैं। मैंने प्रायः लोगोंको कहते सुना है—'बड़ा अन्यायी है भगवान्।'

मैंने कितने ही लोगोंको भगवान्पर इतना क्रोध करते देखा है कि वे पूजा-पाठ छोड़ बैठते हैं। मेरे एक मित्रने मूर्ति उठाकर नदीमें फेंक दी थी; तब हम उनसे एक प्रश्न पूछना चाहते हैं। बालक माताके सामने मचल जाता है कि एक सड़ी मिठाई जरूर खायेगा। पितासे रुष्ट हो जाता है कि उसने उसे जाड़ेमें पानीसे खेलने नहीं दिया। पर क्या वह बालक जानता है कि माता-पिताकी इस अस्वीकृतिमें बालकका ही हित है, उसीके कल्याणके लिये यह कठोरता बरती जा रही है ?

इसी प्रकार भगवान् सर्वान्तर्यामी हैं। वह जानता है कि किसीकी झोलीमें कितना भरा जा सकता है और उसमें कितना बोझ सँभालनेकी शक्ति है। भगवान् जो देता है, वह हमारी मर्यादा, हमारी साधना, हमारे कर्मफल, हमारे अधिकार तथा हमारी शक्ति और योग्यताके अनुपातसे देता है। प्रसिद्ध दार्शनिक शापेनहॉरने लिखा था कि 'यदि तुमको एक रोटी खानेको मिले तो याद रखो कि तुम्हारी करनी आधी रोटी पानेकी थी। आधी भगवान्ने जोड़ दी है।' एक उर्दू कविने यह समझाया है कि भगवान्से प्राप्त सुख-वैभवमें कमी या बेशीपर बहस करना बेकार है। वह जानता है कि किसको कितना मिलना चाहिये—

मयकशो मय की कमी बेशी पै नाहक जोश है।
यह तो साकी जानता है किसको कितना होश है॥

यह प्रसिद्ध है—

राम झरोखे बैठ के सबका मुजरा लेत।
जाकी जैसी चाकरी, तैसा ई फल देत॥

## परिश्रम करें या नहीं ?

तब प्रश्न यह हो सकता है कि हम क्या करें। जब भगवान् ही हमारे भाग्यका निर्णय करके हमको हमारी प्यासके बराबर पानी देनेवाला है तो हमारा परिश्रम बेकार है। बात ऐसी नहीं है। परिश्रमसे संस्कार परिमार्जित हो जाता है। भविष्यका संस्कार बनता है। सफलताकी भूमिका बन जाती है। और फिर, भगवत्कृपा तो सर्वोपरि है ही; पर संसारका सब कुछ सम्बन्ध इरेकसे होते हुए भी हमलोग शास्त्रका यह वचन क्यों भूल जाते हैं कि संसारमें कोई किसीका नहीं है ? समूची नातेदारी, रिश्तेदारी, प्रेम, मेलजोल,—सब स्वार्थका सौदा है। जिसका जबतक स्वार्थ सधता है, तबतक वह उसका है। शास्त्रमें केवल एक माताको ही इस स्वार्थसे परे या ऊपर समझा गया है—

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।

पर कलियुगमें या आजकलके जमानेमें उसका भी अपवाद होने लगा है। हम किस सीमातक अपना स्वार्थ समेटे किसके साथ हैं, इसका अनुमान भी नहीं लग पाता। देखनेमें सभी मित्र मालूम पड़ते हैं। 'बिनु काज दाहिनेहु बाएँ' लोगोंको छोड़कर सभी साथी तथा स्नेही प्रतीत होते हैं; पर हमारी परख तो तब होती है, जब स्वार्थ कहींपर टकराता है—

न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं
न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः।
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा॥

व्यवहारसे ही पता चलता है कि कौन मित्र है और कौन शत्रु। भारतीय नारीका त्याग तथा उसकी तपस्या संसारमें अपरिमेय है, पर अपने स्वामी तथा सौभाग्यकी रक्षाकी भावनामें क्या उसका स्वार्थ तथा आत्मरक्षाकी भावना नहीं है ? धनहीनके लिये तो लिखा है —

माता निन्दति नाभिनन्दति पिता पुत्रो न सम्भाषते।

'माता उसकी निन्दा करती है। पिता आदर नहीं देता, पुत्र बोलतातक नहीं।' इसीलिये न कि वह अभागा धनहीन है ! तब फिर केवल भगवान्को छोड़कर गुणहीन, धनहीन तथा आश्रयहीनका सहारा और क्या है तथा क्या हो सकता है ? सचमुच सोचिये तो इस संसारमें कौन किसका है। वाल्मीकिके सभी घरवालोंने उसके पापके फलका हिस्सा लेना अस्वीकार कर दिया था। जिस पापजाल तथा धूर्त्ततासे हम धन कमाकर अपने परिवारका पोषण करते हैं, उसका फल हमको ही भोगना पड़ता है, पड़ेगा। यमराजके यहाँ हमारी साक्षीमें कोई नहीं जायेगा ? श्मशानतक सभी पहुँचा आते हैं, उसके बाद कोई किसीका नहीं। रोना-पीटना भी दिन बीतते कम हो जाता है। नित्यका जीवन बिताना है। कौन रात-दिन बीते हुए युगकी याद करे, बिछुड़े हुए साथीके लिये आँसू बहाता रहे, सब प्रेम जीवित रहनेतक है। हाँ, अपवाद हो सकते हैं।

हाँ, तो हम बातें कह रहे थे अपने-परायेकी । कबीरदास-जीने स्पष्ट लिखा है—

कबिरा या जग आइके कोउ काहूका नाहिं ।
घर की नारी क्या करै, तन की नारी नाहिं ॥

जब शरीरकी नारी (नाड़ी)साथ छोड़ देती है, तब घरकी नारीकी क्या कहिये । जिसे हम अपना सब कुछ समझते हैं—सम्पत्ति, घर, वैभव, वह सब हमारा कुछ नहीं है—

ना घर तेरा, ना घर मेरा,
चिड़िया रैन बसेरा रे ॥

और यदि आप सोचते हों, कोई तो कहीं सहारा देगा, तो याद रखिये उन पंक्तियोंको, जो काशीमें मणिकर्णिका घाटकी दीवारपर लिखी हुई है—

भोजन मलाई दूध करि कै सरीर पाल्यो,
बँगला में आसपास सुंदरी खरी रही ।
कफ्फन लपेट के सुताया रथी पै अंत,
चूर होके खोपरी मसान में परी रही ॥

तब फिर कौन किसका है ? व्यर्थकी आशा, व्यर्थका माया-मोह, व्यर्थका तर्क-कुतर्क छोड़ दो और केवल यही याद रखो कि कोई किसीका नहीं है । इस जीवनमें हम एकाकी हैं । अकेले आये हैं अकेले चलना है, भवसागरको अकेले पार करना है, यमलोक या परलोक अकेले जाना है । अपनी करनीका अपने ही फल भोगना है । सभी सुखके साथी हैं । व्यर्थके पाप और उत्पातसे कोई लाभ नहीं है । इस अन्धकारमय जीवनमें एकमात्र आधार है—'भगवान् ।'

---

# पढ़ो, समझो और करो

## ( १ )

### हर्षका सागर उमड़ पड़ा

कुछ वर्ष पहलेकी बात है—गङ्गातटपर बसे हुए एक बहुत बड़े नगरमें दो नवयुवक मित्र गङ्गास्नान करने जा रहे थे । रास्तेमें उन्हें कीचड़में कोई चमकती हुई चीज दिखलायी दी । उन्होंने कौतूहलवश कीचड़से उस चीज-को निकालकर देखा तो वह बहुमूल्य हीरेका हार था—कम-से-कम एक लाख रुपये मूल्यका । वे दोनों स्वयं पहले धनी घरानेके थे, उन्हें हीरोंकी पहचान थी । उनमेंसे एक मित्र बहुत अधिक अर्थसंकटमें था । उसने कहा—'भाई ! माळूम होता है भगवान्‌ने मेरी पुकार सुन ली । इसीसे तो यह बहुमूल्य हार मिला है । आज ही इसे ले जाकर तुड़वा लेंगे और हीरे बंबई ले जाकर बेच देंगे । हमलोगोंका बहुत बड़ा संकट टल जायगा ।' दूसरा मित्र भी अर्थसंकटमें था, पर वह बोला, 'भैया ! पराये धनपर मन चलानेसे कभी संकट दूर नहीं होगा । जरा सोचो तो, कोई बहिन गङ्गास्नानको जाती हुई इसे गिरा गयी होगी, वह घर जाकर हार सम्हालेगी और नहीं मिलेगा तो उसके चित्तको कितना भारी दुःख होगा । फिर, पराया धन कभी लाभदायक भी नहीं होता तथा वह टिकता भी नहीं । अतएव भैया, मैं तो घर जाते ही कपड़े पहनकर किसी समाचार-पत्रके दफ्तरमें जाऊँगा और उसमें यह सूचना छपवाऊँगा कि 'हमें एक हार मिला है; जिनका हो, वे प्रमाणित करके ले जायँ । या इसे मारवाड़ी असोसियेशनमें जमा करा दूँगा, वे लोग पता लगाकर जिनका होगा, उन्हें दे देंगे ।' पहले मित्रको बात तो कुछ जँची; पर उसके मनमें लोभ था और वह समझ रहा था—सहज ही जब संकट टलनेका साधन मिल गया है, तब इसे क्यों छोड़ा जाय ? अतएव कई तरह-के युक्तिपूर्ण तर्क उपस्थित करके उसने मित्रको समझानेकी चेष्टा की; पर वह नहीं माना और आखिर यही निश्चित हुआ कि चलकर अखबारमें सूचना छपवायी जाय ।

वे गङ्गास्नानका विचार छोड़कर घरकी ओर मुड़ गये । थोड़ी ही दूर गये थे कि देखते हैं एक अधेड़ उम्र-का पुरुष तीन-चार आदमियोंको साथ लिये कीचड़में किसी चीजको खोज रहा है । बड़ा परीशान है । उसकी

आँखोंसे आँसू बह रहे हैं, चेहरेपर गहरी उदासी छायी है। दोनों मित्रोंने उसको देखा और सोचा कि शायद वह हार ही खोजा जा रहा होगा। उनमेंसे एकने आगे बढ़कर पूछा—'बाबू! आप क्या खोज रहे हैं, क्या आपकी कोई चीज खो गयी है? आप इतने उदास क्यों हैं?' उसने यह बात सुनकर सिर पीट लिया और कहा—'भाई! क्या बताऊँ, मैं बेमौत मारा गया। गजब हो गया। हार न मिला तो मैं मुँह नहीं दिखाऊँगा—आत्महत्या कर लूँगा; पर क्या होगा—आत्महत्यासे? मेरा कलङ्क थोड़े ही उतरेगा। हाय!' इतना कहकर वह पुनः खोजमें लग गया। इसपर इन मित्रोंने फिर पूछा, तब उसने कहा—'भाई! बतानेसे क्या होगा? हमलोग भी पहले पैसेवाले थे। आज बहुत गरीब हालतमें हैं। मेरी एक लड़की अमुक करोड़पतिके यहाँ अमुक स्थानमें ब्याही है। हम धनी थे, तब तो परस्पर बड़ा प्रेम था। पर अब तो हम उनके प्रेमके नहीं, घृणाके पात्र हैं। यही नहीं, उनकी दृष्टिमें चोर हैं। धनियोंकी दृष्टिमें गरीब चोर ही होता है। देखिये, मेरी लड़कीका गहना हमारे यहाँ पड़ा था, उसे उन्होंने मुझपर अविश्वास करके—यह समझकर कि कहीं यह गहना बेचकर खा न जाय, चालाकीसे मँगवा लिया। मुझे कोई दुःख नहीं था। उनकी चीज उनके पास रहे। मैं तो बड़ी जोखिमसे बचा। वे मेरी लड़कीको भी मेरे यहाँ भेजनेमें अविश्वास मानकर, अपनी तौहीन समझकर आनाकानी करने लगे। मुझ मुफलिसके घर करोड़पतिकी बहू भला कैसे आ सकती है।' लड़कीकी माँका बुरा हाल था। मैंने बड़ी आर्जू-मिन्नत की तो उन्होंने मेरी लड़कीको पाँच-सात दिनोंके लिये भेजा। पक्का इकरार करा लिया कि सात दिनके बाद उसे वापस भेज देना पड़ेगा। यहाँतक कि रेलके टिकट भी रिजर्व करा लिये गये।

'लड़कीको आये पाँच दिन हुए हैं, आज बहुत तड़के ही वह अपनी माँके साथ गङ्गास्नानको आयी थी। रास्तेमें कहीं उसके गलेका हीरेका नेकलेस (हार) गिर गया। मैं तबसे खोज रहा हूँ, पर मिल नहीं रहा है। हार न मिला तो वे यही समझेंगे कि लड़कीको फुसलाकर मुफलिस माता-पिताने हार हड़प लिया है। पता नहीं, वे मेरी भोली लड़कीको क्या-क्या कहेंगे, कैसी-कैसी गालियाँ देंगे। मुझे तो चोर-डाकू समझेंगे ही। अच्छा होता, लड़की घर आती ही नहीं। हाय! अब मैं क्या करूँ?''

उसकी दीन दशा देखकर दोनों मित्रोंको बड़ी दया आयी। उन्होंने सोचा—हो-न-हो, हार इन्हींका है। उन्होंने कहा—'बाबू! आप घबराइये नहीं। भगवान् किसी ईमानदार तथा सच्चे पुरुषपर कलङ्क क्यों लगने देंगे? एक हार हमें रास्तेमें मिला है। अभी कीचड़में सना है। आप घर चलिये—वहाँ आपकी लड़की हार देखकर पहचान लेगी तो आप और हम उसे लेकर उसके ससुराल चलेंगे और सारी बातें उनको समझा देंगे।' यों कहकर उन्होंने हार दिखलाया। हार देखते ही वह नाच उठा, अब उसकी आँखोंसे आनन्दके आँसुओंकी धार बह चली। वह गद्‌गद होकर उन दोनों मित्रोंके चरणोंमें लिपट गया। आम रास्ता था, लोग इकट्ठे होने लगे। तब उन मित्रोंने हो-हल्लेसे बचनेकी नीयतसे हार जेबमें डाला और उस सज्जनको साथ लेकर वे उसके घर पहुँचे। घरमें कुहराम मचा था। लड़कीकी माँ बुरी तरह रो रही थी और बेटी पास बैठी उसे समझा रही थी।

इतनेमें ही लड़कीके पिताने आकर रोते हुए कहा—'बेटी! रो मत। दो देवता आये हैं—तेरा हार लेकर। देख, पहचान और इनके चरणोंमें नमस्कार कर।' हार पहचान लिया गया। उन गृहस्थ-दम्पतिके सुखका क्या ठिकाना। उनका रोम-रोम उन दोनों मित्रोंको आनन्दाश्रुओं-

के साथ कृतज्ञतापूर्ण आशीर्वाद दे रहा था। वे दोनों भी बड़े ही प्रसन्न थे। उन्हें अर्थसंकटसे मुक्त होनेपर कैसा क्या सुख मिलता? सो तो अलग बात है। पर इस दृश्यको देखकर तो उनके हृदयमें हर्षका सागर ही उमड़ रहा था।

—विद्यानन्द

( २ )

## माँगने आये कि देने?

कुछ वर्षों पहलेकी घटना है। एक बड़े व्यापारी सज्जन, जिनके बड़ा कारोबार था, जो प्रसिद्ध उदार तथा दानी कहलाते थे, अपने घरके बाहरके हिस्सेकी आफिसमें बैठे फाइलोंको देख रहे थे। इतनेमें बाहरसे दरबानने आकर कहा—'बाबूजी! बाहर एक सज्जन खड़े हैं, मिलना चाहते हैं।' बाबूजी मनमें बहुत कुढ़े, बोले—'ये माँगनेवाले जरा भी दम नहीं लेने देते, सुबहसे ही आने लगते हैं!' पर अपनी सभ्यताकी रक्षा करनेके लिये बोले—'अच्छा भेज दो।' दरबान लौट गया और एक सादी पोशाकका सुन्दर नवयुवक अंदर आ गया। बाबूके संकेतसे वह एक कुर्सीपर बैठ गया। बाबूने फाइलोंसे जरा दृष्टि हटाकर रूखे स्वरमें पूछा—'क्यों कैसे आये? क्या काम है? आजकल तो मैं तंग आ गया हूँ। ये माँगनेवाले कभी भी आरामसे काम नहीं करने देते। आप किस कामसे आये हैं, बताइये।' आगन्तुक तरुणने मुसकराते हुए कहा—'बाबू! मैं तो माँगने नहीं आया हूँ, मैं तो एक विशेष कामसे आपके पास आया हूँ। आपसे कुछ जरूरी बात कहनी है।' फिर दोनोंमें निम्नलिखित बातें हुईं—

*बाबू*—'बोलिये तो, क्या बात कहनी है?'

*आगन्तुक तरुण*—दो साल पहले आपके………… कारखानेका राजेन्द्रनामक एक आदमी चोरीके अपराधमें पकड़ा गया था। उसे सालभरकी जेल हो गयी थी, आपको याद है न?

*बाबू*—( बिना रुख जोड़े ) हाँ, याद है।

*तरुण*—क्या यह भी याद है कि आपने उसको निर्दोष जानते हुए भी स्वार्थवश रिश्वत देकर, वकीलोंपर पैसा खर्चकर तथा अन्यान्य प्रकारसे प्रयत्न करके जेल भिजवाया था और फिर वह अपीलमें छूट गया था।

*बाबू*—( जरा कड़े स्वरमें ) हाँ, किया होगा।

*तरुण*—तो बाबू, वह राजेन्द्र मैं ही हूँ।

*बाबू*—( कुछ डरे हुए, कुछ तमतमाते हुए ) तो क्या बदला लेने आये हो?

*तरुण*—हाँ, आया तो हूँ बदला लेने ही।

*बाबू*—तो? क्या करोगे?

*तरुण*—आप खातिर रखिये, मैं आपको मारूँगा नहीं; केवल आपसे दो बातें कहकर चला जाऊँगा।

*बाबू*—( नरम होकर ) अच्छा तो कहो।

*तरुण*—जिन लोगोंके कहनेसे आपने स्वार्थवश उस समय मुझको जेल भिजवाया था तथा जिनके साथ मिलकर आपने पीछे बहुत बड़ा अवैध कारोबार किया था, उनसे साझेदारीको लेकर आपसे झगड़ा हो गया था—यह तो आप जानते ही हैं। अब मुझे उनके एक भयानक षड्यन्त्रका पता लगा है और मैंने अच्छी तरहसे सारी जाँच-पड़ताल कर ली है, तब आपको सावधान करने आया हूँ। बात यह है कि उन लोगोंने उस कामपर तथा उसमें लगी सारी पूँजीपर अपना पूरा अधिकार कर लेनेकी इच्छासे आपको संसारसे उठा देनेकी पूरी व्यवस्था कर ली है। इसके प्रमाणमें अमुकके हाथका अमुकके नाम लिखा हुआ यह पत्र है। आप हस्ताक्षर पहचानते ही हैं। ( इतना कहकर उसने पत्र पढ़वाया

और फिर कहा—) कल रातको आपको जो दावत देनेकी व्यवस्था की गयी है, वह उन्होंने ही उस अमुक व्यक्तिको लालच देकर करवायी है, जिसको आप अपना मित्र माने हुए हैं। दावतके बाद ही आपको समाप्त कर देनेकी योजना है। आपने मेरे साथ बुरा व्यवहार किया था; परंतु मेरा यह सिद्धान्त है—मुझे गुरुजीने यह कहा था कि तुम्हारा बुरा तुम्हारे प्रारब्धके बिना कोई कर नहीं सकता! करना चाहता है तो वह अपना ही बुरा करता है—इसलिये वह दयाका पात्र है, क्रोधका नहीं। अतएव मुझे जब पता लगा और पक्का प्रमाण मिल गया, तब मैं आपको सूचना देने आ गया। आप बचनेकी व्यवस्था कर लें। अच्छा! अब मैं जाता हूँ। आपके शत्रुओंको कहीं यह पता लग गया कि मैंने आपको इसकी सूचना दी है, तो वे मुझे मारे बिना नहीं छोड़ेंगे। मैं अपनी जानपर खेलकर इसीलिये आपके पास आया हूँ कि यही मेरा पुनीत कर्तव्य है।' (यों कहकर वह चल दिया।)

बाबूजी आँख फाड़े देखते रह गये। सोचने लगे, 'कहाँ मैं नीच स्वार्थवश झूठे मुकदमेमें फँसाकर निर्दोष नवयुवकको जेल भिजवानेवाला और कहाँ यह महान् उच्च हृदयका नवयुवक, जो मुझ नीच नराधमको मृत्युसे बचानेके लिये जानपर खेलकर मुझे सावधान करने आया है! मैंने इसको माँगनेवाला समझकर इसका तिरस्कार किया था, पर यह तो मुझे प्राणदान करने आया है।'

बाबूके हृदयमें पश्चात्ताप, दैन्य, कृतज्ञता, सत्पुरुष-महिमा और ईश्वर-कृपा आदि अनेकों भावोंकी विविध तरङ्गें उठने लगीं। षड्यन्त्रकी बात सच्ची थी ही। सारी व्यवस्था हो गयी, षड्यन्त्रकारी पकड़े गये और उन्हें यथायोग्य दण्ड भोगना पड़ा।

—सोहनलाल गुप्त

## (३)

## 'राखे राम तो मारे कौन!'

"यह घटना अनुमानतः पंद्रह-सोलह वर्ष पूर्वकी है। जिस स्थानकी यह घटना है, भारतवर्षका वह हिस्सा अब पूर्वी पाकिस्तानमें है। बरीसाल जिलान्तर्गत 'भोला' नामक द्वीपमें हमलोग व्यापारके निमित्त सपरिवार रहा करते थे।

"एक दिन रात्रिमें हमलोग अपनी दूकानमें बैठे हुए थे। रात्रिके नौ बजे होंगे, बरसातके दिन थे। जोरोंसे वर्षा हो रही थी, कुछ-कुछ तूफान भी आ रहा था। हमारे यहाँ सुपारीका व्यापार होता था। मजदूर लोग रातको ग्यारह-बारह बजेतक उस काममें लगे रहा करते थे।

"उस रात्रिकी घटनाके वर्णन करनेके पूर्व यह बतला देना अत्यन्त आवश्यक है कि मैंने अपने बाल-बच्चोंको कुछ दिन पूर्व ही कलकत्ते भेज दिया था। हमारी दूकानके पीछे ही गोदाम बने थे, वहींपर मजदूर काम किया करते थे। 'भोला'में सभी मकान टीनोंके ही बना करते थे—दीवार भी टीनोंकी एवं छप्पर भी टीनोंके ही।

"पानी तो अकसर बरसा ही करता है। इसमें कोई खास बात नहीं थी। थोड़ी ही देर बाद मजदूरोंका सरदार आया और कहने लगा कि गोदामोंमें नीचेकी ओरसे पानी आना शुरू हो गया है। इसपर हमलोग सोच ही रहे थे कि क्या करें। इसी बीचमें बड़े जोरोंकी साँय-साँय आवाज आने लगी; सरदारने कहा—'तूफान बड़े जोरोंसे आ रहा है' एवं साथ ही देखा गया तो जिस दूकानमें हमलोग बैठे थे, उसमें भी नीचेसे पानी आना प्रारम्भ हो गया। पानीका वेग क्रमशः बढ़ रहा था, कुछ भी उपाय नहीं समझमें आ रहा था। बुद्धि भी काम नहीं दे रही थी। जैसे-जैसे पानी बढ़ने लगा, अगल-बगलके सैकड़ों लोग भी हमारी दूकानमें आने लगे;

क्योंकि उन सबके मकानोंसे हमारा मकान काफी मजबूत था। देखते-ही-देखते पानी घुटनोंतक आ गया।

"अब तो सब लोगोंने प्रायः प्राणोंकी आशा छोड़ दी और बचावका उपाय सोचने लगे। तूफान इतना भयंकर था कि आसपासके मकानोंकी टीनें उड़-उड़कर गिरने लगीं, नारियल और सुपारीके बड़े-बड़े पेड़ भी टूट-टूटकर गिरने लगे। प्रलयका दृश्य उपस्थित हो गया। उधर बाढ़का पानी कमरसे थोड़ा ही नीचे रह गया। यह सब इतनी शीघ्रतासे हुआ कि कठिनतासे बीस मिनट समय लगा होगा। किसी-किसीने दूकानपर बनी हुई लटानपर चढ़ जानेकी सलाह दी। लेकिन तूफान और बाढ़के जलका इतना वेग था कि किसी भी समय दूकान-गृह टूट सकता था।

"सब लोग सच्चे हृदयसे भगवान्‌को पुकारने लगे। अब तो जीवनका अन्तिम क्षण उपस्थित था। मेरे मनमें अब भी माया छा रही थी। मैंने सारे बहीखाते तिजोरीमें बंद कर दिये और उपस्थित लोगोंसे कहा कि—आपलोगोंमेंसे यदि कोई जीवित रहे तो हमारी खोजमें हमारे घरसे जो लोग आयें, उन्हें कह देना कि बहीखाता सब इस तिजोरीमें ही है।'

"इसके बाद फिर सब लोग भगवान्‌का नाम-कीर्तन करने लगे। इतनी देरमें जैसे मुझे कुछ संकेत मिला। थोड़ी ही दूरपर हमारे एक परिचित एवं मित्र उत्पलबाबू वकील रहा करते थे। उनका मकान ईंट-चूनेसे दुमंजिला बना था और काफी मजबूत था। हमने सोचा उत्पलबाबूसे हमारा इतना मेल है, क्या इस संकटके समय वे हमको शरण नहीं देंगे? कुछ संकोचके साथ ही हमने उनके दो-मंजिले मकानपर जानेकी ठान ली और उपस्थित सब लोगोंसे भी हमने चलनेके लिये कहा। हम सब लोग साथ-साथ चले।'

"कमरतक पानीमें, नंगे पैर, जमीनपर लोहे-लक्कड़, टीनोंका ढेर पार करते हुए, सिरपर बारिश और तूफानका वेग सहते हुए करीब चार फर्लांगकी दूरीपर हमलोग उत्पलबाबूके मकानपर किस तरह सकुशल पहुँच गये, यह भगवान् ही जानें। उस बातका जब स्मरण होता है, तब अब भी बदनके रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

"उत्पलबाबूने हमलोगोंका स्वागत किया। हम तो संकोचके साथ ही उनसे प्रार्थना करनेवाले थे कि 'आप इस संकटमें हमको आश्रय दीजिये।' परंतु इसका उन्होंने मौका ही नहीं दिया। हमारे पहुँचते ही उन्होंने एक नयी धोती और नयी बनियान लाकर मुझको दी और कहा—आप कपड़े बदल डालिये। मैंने उनसे बहुत ही विनय की कि 'आप इतना कष्ट न कीजिये, आपकी इतनी दया ही यथेष्ट है।' किंतु वे कब माननेवाले थे। आखिरकार कपड़े बदल मैं एक कुरसीपर बैठ गया एवं इष्टदेवका स्मरण करने लगा। नाना प्रकारके विचार मेरे मानस-पटपर सिनेमाके चित्रोंकी तरह आ-जा रहे थे। मैं सोच रहा था, 'कल मैं क्या था और आनेवाले सुबह मैं क्या हो जाऊँगा? पानी उतर भी गया तो मैं विना पैसे-कौड़ी कैसे कलकत्ते पहुँच पाऊँगा? क्या जहाजवाले मुझे विना टिकटके ले जायँगे, हालाँकि इस जहाजकम्पनीने आजतक मेरा माल ले जाकर काफी रकम उपार्जित की है। कल मैं खाऊँगा भी क्या? क्योंकि सभी चीजें पानीमें बह गयी होंगी····इत्यादि-इत्यादि' तरह-तरहके विचारोंका द्वन्द्व चल रहा था।

"अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञ भगवान्‌की महत्ताको क्या जाने। जानता होता तो अपने लिये या अपने निर्वाहके लिये इतना चिन्तन न करके उन मङ्गलमय प्रभुका ही चिन्तन करता, जो सब कष्टोंको मिटानेके लिये सदा कटिबद्ध रहते हैं।

"धीरे-धीरे पौ फटने लगी। वर्षा भी रुक गयी, तूफान भी शान्त हो गया एवं प्रकाश भी होने लगा।

छतपर जाकर देखा तो बड़ा प्रलयकारी दृश्य देखा जा रहा था।

"बाढ़का पानी उतर चुका था। चारों ओर हृदय-विदारक दृश्य था। टूटे घर, दरवाजे, बिखरे टीनोंके छप्पर, धराशायी वृक्षोंके ढेर आदि चारों तरफ नजर आ रहे थे। यह पहचानना कठिन था कि कौन-सा घर किसका है; क्योंकि छतोंपर छप्पर शायद ही किसी मकानपर बचा था।

"अब विचार हुआ कि किसी मनुष्यको भेजकर पता लगायें कि हमारे घरका क्या हाल है। वहाँ एक गाय भी अपने बछड़ेके साथ बँधी थी, और भी दो-तीन आदमी वहाँ रह गये थे। एक आदमीको भेजा गया। करीब दो घंटे बीत गये, वह वापस नहीं लौटा, जब कि दूरीके हिसाबसे पंद्रह मिनटमें ही उसे लौट आना चाहिये था। फिर दूसरा आदमी भेजा गया, वह भी नहीं लौटा। कारण कुछ समझमें नहीं आ रहा था। निश्चय करनेके लिये हमलोग सब-के-सब दूकानकी ओर चले। जिस रास्तेको तय करनेमें दस मिनटसे ज्यादा समय नहीं लगना चाहिये था, वह रास्ता डेढ़ घंटेमें तय कर पाये; क्योंकि रास्ता कहीं था ही नहीं। सब जगह घर-दरवाजों-के टूटे-फूटे हिस्से, पेड़, कूड़ा-करकट आदि पड़े थे। जमीन कहीं दिखायी ही नहीं दे रही थी।

"यही कारण था कि पहले जिन दो व्यक्तियोंको भेजा गया था, वे किसी तरह गन्तव्य स्थानतक पहुँच तो गये, परंतु वापस आना उनके वशकी बात नहीं थी।

"जाकर देखा तो हमारे घर-दरवाजे तो सही-सलामत थे, परंतु एक बछिया मर गयी थी और बाढ़के पानीसे सारा माल भीग गया था। सामान सब मौजूद था, किंतु सब भीगा हुआ।

"अब चिन्ता हुई कि पेटकी ज्वालाको कैसे शान्त किया जाय; क्योंकि पानीसे सब कुछ बह गया था। पीनेका शुद्ध जल भी मिलना कठिन था। तालाब सब बाढ़के पानीसे भर गये थे एवं वहाँ तालाबका पानी ही पीनेके काममें आता था। परंतु भव-भयहारी परमात्माने सब व्यवस्था कर रखी थी। एक मिट्टीके मटकेमें करीब एक मन चावल था, जो पानीपर तैरता रह गया, एवं कमरेके दरवाजे बंद होनेके कारण बाहर बहकर नहीं निकल पाया। सब लोगोंने उसीमेंसे चावल बनाकर भोजन किया। एवं शहरके सरकारी तालाबके किनारे काफी ऊँचे थे, इस कारण उसमें बाढ़का पानी नहीं जा सका था। अतः उसका पानी पीनेको मिल गया।

"धीरे-धीरे स्थिति सुधरने लगी। सरकारी सहायता भी पहुँचने लगी, अन्य संस्थाएँ भी आयीं। खबर पाकर कलकत्तेसे हमारे घरसे भी लोग आये। इतना बड़ा प्रलय हुआ; किंतु जैसे कोई आँच ही न आयी हो, ऐसा लग रहा था। इतनी बड़ी घटनाको देखते हुए हानि कुछ भी नहीं थी। एक बछियाकी दुःखद घटना-के अतिरिक्त गृहहानि, मनुष्यहानि, अर्थहानि कुछ भी नहीं हुई। अर्थहानि इसलिये नहीं समझी गयी कि उक्त घटनाके कुछ दिनों बाद ही जो वस्तुएँ बाढ़के जलसे भीग गयी थीं, उनका मूल्य बढ़ता गया एवं सब माल ऊँचे दामोंमें बिक गया। यह सभी भगवान्‌का विधान था। सबसे बड़ी कृपा तो यही थी कि हमने बाल-बच्चोंको कुछ दिन पहले ही कलकत्ते भेज दिया था। वे होते तो सम्भवतः काफी कष्टका सामना करना पड़ जाता एवं सबके प्राणोंकी रक्षा होना भी सम्भव न होता।

"हमलोग उस भीषण रात्रिमें कैसे उत्पलबाबूके यहाँ पहुँच गये एवं कैसे वे चावल बाढ़से अछूते बच गये? कैसे सरकारी तालाबका पानी शुद्ध बचा रह गया? इन बातोंका अब भी जब स्मरण होता है, तब विश्वके रक्षक, दीनदयालु परमात्माकी दयाका कोई पार नहीं मिलता।"

— रामजीवन चौधरी

## ( ४ )

## प्रार्थनाका सुफल

"लगभग साढ़े नौ वर्ष पहलेकी बात है । मेरे पति-की मृत्युके बाद मैं सर्वथा अकिंचन हो गयी थी । उस समय मेरी उम्र ५१ वर्षकी थी और मैंने कभी अपनी जीविकाके लिये कुछ कमाया न था । मुझे बड़ा भय हो गया । मेरा हृदय भयसे भर गया । मुझे नींद हराम हो गयी । मैं रातों जाग-जागकर सोचा करती 'मुझे क्या करना चाहिये ?' अनिद्राके कारण मेरी स्थिति और भी बिगड़ने लगी ।

"मैंने अनुभव किया कि सबसे पहले मुझे इस भयसे छुटकारा पाना चाहिये । मैं प्रतिदिन प्रातःकाल भगवान्‌से प्रार्थना करने लगी कि वे मेरे भयको मिटा दें । तीन सप्ताहके पश्चात् मेरे हृदयमें पूर्ण शान्ति और स्थिरता आ गयी । मेरा सारा भय जाता रहा ।

अब मैंने ईश्वरसे यह प्रार्थना की कि वे मुझे काम पानेके लिये ठीक स्थानपर पहुँचा दें । एक दिन बड़ी वर्षा और आँधी आ रही थी, उस दिन मुझे किसीसे भी मिलने नहीं जाना चाहिये था । पर मेरे अंदर प्रेरणा हुई कि मैं आज ही जाकर अमुक सज्जनसे मिलूँ । मुझे पता ही न था कि कामके लिये कहीं कैसे दरख्वास्त देनी चाहिये और पहलेसे मिलनेका समय निश्चित करा लेना चाहिये । मैं जब उन सज्जनके कार्यालयमें पहुँची, तब उनके सेक्रेटरीने मुझे बताया कि वे बिना पहलेसे समय निश्चित किये कभी किसीसे नहीं मिलते । जो कुछ भी हो, मैंने सेक्रेटरी महोदयके द्वारा अंदर कार्ड भिजवाया । मुझे तुरंत बुला लिया गया और वे मेरे साथ अच्छी तरहसे मिले । पहली बात उन्होंने यह कही कि तुम्हारा बड़ा भाग्य है, जो तुमने इस पानी बरसते दिन-को मिलनेके लिये चुना ( यद्यपि मैंने नहीं चुना था, यह तो ईश्वरने ही चुना था ); क्योंकि आज ही मैं बाहर जानेवाला था, पर बरसातके कारण रुक गया । उन्होंने फिर कहा कि 'तुम बहुत ठीक समयपर पहुँची; क्योंकि मैं अभी अपनी संस्थाके लिये कुछ नये लोगोंकी नियुक्ति करनेवाला था ।' उन्होंने मुझे उसी समय काम दे दिया और तबसे मैं वहीं काम कर रही हूँ । मुझे आशा है कि मेरे इस लेखसे उन लोगोंको सहायता मिलेगी, जो मेरी ही भाँति पचास वर्षके ऊपरके हैं और वैसे ही डरे हुए हैं ।

—ई० एस्० पी० ( एक अमेरिकन महिला )

## ( ५ )

## गरीबोंके सहायक

कुछ वर्षों पहले वढवाण शहर और उसके आस-पासके भागोंमें महामारी फैल गयी थी । बालक-वृद्ध, छोटे-बड़े, गरीब-धनी—सभी इस रोगके शिकार हो गये थे । रोज दर्जनों आदमी ईश्वरके दरबारमें पहुँचते थे । गरीबोंकी स्थिति तो अत्यन्त करुणाजनक थी । जहाँ पेट भरनेका साधन न हो, बच्चे दूधके अभावसे तिलमलाते हों, वहाँ दवाकी तो बात ही कैसे सोची जाय ?

इसी समय उसी गाँवके एक दयालु पुरुषने गरीबों-के लिये अपने भंडार खोल दिये । वह अनाज, कपड़ा, दवा रोगियोंके घर-घर पहुँचाने लगा । सूनी-अँधेरी रात हो, साँय-साँयकी आवाज करती ठंडी हवा चलती हो, कड़कड़ाता जाड़ा हो, यह दयालु पुरुष रातों घर-घर फिरता और यथासाध्य सबकी जरूरतें पूरी करता । रातको सोये लोगोंको किवाड़ खड़काकर जगाता । बाहरसे आवाज देता—'भाई ! तुम्हें किसी चीजकी जरूरत है क्या ? मैं तो तुम्हारे कुटुम्बका ही आदमी हूँ, मुझे दूसरा मत समझना । बताओ, क्या करूँ ?' यों कहता हुआ उनको आवश्यक वस्तु देकर तुरंत ही दूसरे घरकी ओर जाता और ऐसे ही

मीठे आत्मीयताभरे शब्दोंसे बातचीत करके आवश्यक वस्तुएँ देता । उसके मनमें उस समय गाँवभरको बचा लेनेकी ही एकमात्र कामना थी ।

एक दिन एक बुढ़ियाका भरपूर जवान पुत्र महामारीका शिकार होकर चल बसा । वृद्धाका एकमात्र सहारा टूट गया । सबको अपनी-अपनी पड़ी थी । बेचारी बुढ़ियाको आश्वासनके दो मीठे वचन कौन सुनाता । कौन उसका सहारा बनता । इस दयालु सज्जनको पता लगते ही तुरंत यह बुढ़ियाके पास पहुँचा और उसे आश्वासन देते हुए बोला—'तुम्हारा वह पुत्र चला गया तो क्या, मैं तो अभी जीवित हूँ । आजसे तुम मुझीको अपना पुत्र मानना ।' यों कहकर यह दयालु सज्जन उस बुढ़ियाको आदरपूर्वक अपने घर ले गया—एक पुत्र अपनी माताको जिस आदर और प्रेमसे ले जाता है, उसी आदर और प्रेमसे ।

भगवान्‌की कृपासे महामारीका प्रकोप धीरे-धीरे कम होने लगा तथा अन्तमें शीघ्र ही सर्वथा शान्त हो गया । आश्चर्यकी बात तो यह थी कि उस समय वहाँ ऐसा एक भी घर नहीं बचा था, जहाँ किसी रोगीकी चारपाई न हो । परंतु इस दयालु सज्जनके घरमें कोई भी इस रोगका शिकार नहीं हुआ । यह सज्जन स्वयं तो रात-दिन रोगियोंकी जमातमें ही बैठा रहता—उनकी दवा-दारू करता, उन्हें जरूरी चीजें देता, आश्वासन देता; इतनेपर भी रोगके अंशमात्रने भी इसका स्पर्श नहीं किया, मानो रोगियोंकी सेवा करनेके लिये ही ईश्वरने इसको रोगसे सर्वथा मुक्त रखा था । —रमणीक गोसलिया

## मानवता

### ( १ )

जिसका व्यवहार सदा ही गंदा समझा जाता है, उस पुलिसविभागमें जब कोई दयालु और सज्जन पुरुष दिखायी देते हैं, तब लोगोंको आश्चर्य होता है । एक ऐसा ही प्रसङ्ग सौराष्ट्रके केशोद ग्राममें देखा गया ।

केशोदमें एक भाई तमंचा साफ करके उसे भर रहे थे । भरनेके बाद वे उचित स्थानपर उसे रख रहे थे कि तमंचा अचानक छूट गया और उससे उनकी छातीकी दाहिनी ओर गहरी चोट लगी । नवयुवक चेतनाहीन होकर जमीनपर गिर पड़े ।

इस दुर्घटनाका समाचार मिलते ही पुलिसजमादार श्रीगेरैया तुरंत वहाँ पहुँचे । जाकर देखते ही उनको लगा कि यदि इस नवजवानको तुरंत ही जूनागढ़ अस्पतालमें ले जाकर इसका इलाज कराया जाय तो यह बच सकता है । परंतु उस गाँवमें उसका न तो कोई कुटुम्बी था न सगा-सम्बन्धी । जूनागढ़ ले जानेका सवारी-खर्च कौन दे, यह प्रश्न सामने आया । गाँवमें कोई भी इसके लिये तैयार नहीं हुआ । इस प्रकारके दृश्यको देखकर भी मानव-हृदय द्रवित नहीं हुए ! समय बीत रहा था और नवयुवककी स्थिति बिगड़ती जा रही थी । इससे अन्तमें पुलिस-जमादार श्रीगेरैयाने जूनागढ़तकका मोटर-किराया ३०) रुपये अपने पाससे देकर उस जवानको तुरंत जूनागढ़ पहुँचाया और यों बुझते हुए एक जीवन-दीपको इस दयालु पुलिसमैनने बचा लिया !

केवल ८०) वेतन पानेके कारण आर्थिक स्थिति अच्छी न होनेपर भी तथा बड़े कुटुम्बके निर्वाहका भार अपने ऊपर होते हुए भी, एक मानव-प्राणके सामने इस रकमको नगण्य समझकर श्रीगेरैयाने अपनी हैसियतसे कहीं अधिक पैर बढ़ाया । धन्य !

## मानवता

### ( २ )

मेरे पड़ोसीका लड़का अचानक बीमार पड़ गया । आर्थिक स्थिति अच्छी न होनेके कारण इलाजकी व्यवस्था ठीक न हो सकी और इससे उसकी बीमारी

बढ़ती ही गयी। पता लगानेपर मैं एक अच्छे डाक्टर-को लेकर उसके घर गया। डाक्टरने देख-भालकर एक इंजेक्शन लिख दिया और कहा कि यह 'इंजेक्शन तुरंत दे दिया जाय तो रोगीका बच जाना सम्भव है।' जहाँ घरमें खानेका ही टोटा हो, वहाँ इंजेक्शनके लिये पैसे कहाँसे आयें। मैंने तुरंत डाक्टरके हाथसे कागज ले लिया और एक किरायेका रिक्शा लेकर इंजेक्शन लानेके लिये मैं मेडिकल स्टोर्सकी ओर चल दिया। आधे रास्ते पहुँचनेपर याद आया कि घरसे पैसे तो लाया ही नहीं। पर मनमें यह आशा हुई कि किसी अच्छे दूकानदारके पास जाकर सारी परिस्थिति समझा दूँगा तो वह इंजेक्शन दे देगा और मैं उसे पीछे दाम दे आऊँगा। मैं एक अच्छे मेडिकल स्टोरमें पहुँचा। वे भाई खद्दरधारी थे और समझदार भी थे, ऐसा उनकी बोल-चालसे लगा। मैंने इंजेक्शन लेकर उनको सारी परिस्थिति समझा दी। कुछ ही देरमें दूकानदार महोदयके चेहरेका भाव बदल गया और उन्होंने उधार न देनेकी बात कहते हुए 'terms cash' साइनबोर्ड-की ओर मेरी दृष्टि खींची। मैंने अपना परिचय देकर पता बताया; पर पैसेके पुजारी वे मेरी बात क्यों सुनने लगे। दिये हुए इंजेक्शनको मेरे हाथसे वापस लेते हुए उन्होंने कहा—'पैसा हो, तब ले जाइयेगा।' उन्हें यों कहते जरा भी संकोच नहीं हुआ।

मैं दूकानपर पहुँचा था, तब इन दूकानदार भाईने कितनी सुन्दर प्रेमपूर्ण मानवताकी मुहर मुझपर लगायी थी। उसके साथ इस समयके इस कोरे व्यापारी-की तुलना नहीं हो सकती। पहली मुहर धोखेकी चीज निकली और मैं इंजेक्शन लिये बिना ही दूकानसे बाहर निकला।

रिक्शेवालेने मेरे हाथमें इंजेक्शन न देखकर सहज ही पूछा—'भाई! इंजेक्शन ले आये?' मैंने सब हकीकत उसे सुना दी। और मेरे आश्चर्यके बीच, किरायेपर रिक्शा चलानेवाले तथा मुश्किलसे दो रुपये रोज कमानेवाले उस रिक्शाचालक भाईने मेरे हाथमें दस रुपयेका नोट निकालकर रख दिया और कहा—'जाइये, इंजेक्शन ले आइये।' मैं नोट लेते झिझका और मैंने बहुत-सी दलीलें कीं; पर उसने इतना ही कहा—'दुःखके समय मनुष्य मनुष्यके काम न आये तो वह मनुष्य कैसा?' मैं इंजेक्शन ले आया और इस प्रकार एक रिक्शेवालेकी मानवताने एक मरते मनुष्यको बचा लिया।

मजदूरी करके पेट पालनेवाला रिक्शाचालक जन्मसे ही भला था, इसलिये वह आजतक वैसा ही भला बना रहा। इधर, नाटक करता हुआ वह व्यापारी समयपर मानवताकी नकाब फेंककर अपने मूलस्वरूपमें आ गया।*—महेश आचार्य

## दर्शनकी प्यास

अखियाँ तव दरसन की प्यासी।  
जिमि चकोर मन चंद लखे बिन घेरे रहत उदासी॥  
दरसन देहु बिदेह लली पिय! जानि आपनी दासी।  
'मोहनिदास' बेगि अब काटहु बिरह बिथा की गाँसी॥

* यह 'स्तम्भ' गताङ्कसे ही आरम्भ किया गया है। कल्याणके पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना की गयी थी और पुनः की जाती है कि वे ऐसी छोटी-छोटी सच्ची उपदेशप्रद घटनाएँ लिख भेजें। इस बार पिछली दो घटनाएँ 'अखण्ड आनन्द'से साभार ली गयी हैं।—सम्पादक

# प्रार्थनामय जीवन

( लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी )

[ भाग ३१, पृष्ठ १३७६ से आगे ]

( ५ )

## अमृतके बिन्दु

जब भी हम प्रार्थना करते हैं, तभी हर बार हमें अमृतकी एक बूँद प्राप्त होती है, जो हमारी आत्माको तृप्त करती है। प्रार्थना हमारी आत्माकी खूराक है। जहाँपर भी दो व्यक्ति साथ बैठकर ईश्वर-प्रार्थना करते हैं, उतनी देरके लिये वह स्थान मन्दिर या तीर्थ बन जाता है। प्रार्थनाके समय या तो हमारी आत्मा भगवान्‌के पास पहुँच जाती है या भगवान् हमारे पास आ जाते हैं; जैसे भी हो, हम उस समय भगवान्‌के साथ आमने-सामने खड़े होकर बातें करते हैं। भगवान् हमारी प्रार्थना सुनते हैं और हमें उत्तर देते हैं।

किसी भी क्षणकी प्रार्थनामें प्राप्त हुई अमृतकी बूँद हमारी आत्मामें पड़ी रहती है और सदैवके लिये हमारे जीवनको प्रभावित करती रहती है। इसके विषयमें भी कह सकते हैं कि इस धर्मका थोड़ा-सा भी पालन महान् भयसे उबार लेता है। इसकी तुलना बरगदके बीजसे की गयी है, जो देखनेमें जितना छोटा होता है उसका वृक्ष उतना ही बड़ा होता है, जिसपर आसमानके पंछी बसेरा लेते हैं। इसकी तुलना दहीके जामनसे की जाती है, जो स्वयं जरा-सा होता है परंतु सारे दूधको जमाकर दहीमें परिणत कर देता है। ईश्वर-प्रार्थनामें बिताया हुआ एक क्षण भी सर्वनाशसे हमारी रक्षा करनेमें समर्थ हो सकता है; क्योंकि यह एक ऐसा बीज होता है, जो बड़ा होकर कल्पवृक्ष बन जाता है। इस अमृतकी बूँदमें समुद्र छिपा रहता है, जो समय आनेपर प्रकट हो जाता है।

जिसके लिये भी हम ईश्वरसे प्रार्थना करेंगे, उसे उसी समय ईश्वरकी कृपारूपी अमृत-बिन्दु प्राप्त होगा और यह अमृत उसे सजीव रूपमें एक ठोस पदार्थकी तरह अनुभव होगा। हमारे कष्टोंको नष्ट करनेके लिये प्रार्थना एक ऐसा ब्रह्मास्त्र है, जिसका वार कभी खाली नहीं जाता। प्रार्थना एक ऐसा कवच या दुर्ग है, जो प्रत्येक भयसे हमारी रक्षा करता है। प्रार्थना ही वह दिव्य रथ है, जो हमें सत्य, ज्योति और अमृतकी प्राप्ति करानेमें समर्थ होता है।

ईश्वरको अभी और इसी समय प्राप्त करनेका बिलकुल सरल और अमोघ उपाय ईश्वर-प्रार्थना है। अभी आप प्रार्थना कीजिये और अभी प्रभुसे आपका मिलन होगा और वे आपको अपने साम्राज्यका युवराज बना देंगे, अपने भंडारकी कुंजी आपको दे देंगे, उनकी समस्त प्रभुता और पूर्णता आपकी हो जायगी। चरम सुख और परम आनन्दकी बेला आ गयी है। भगवान् आपके सामने खड़े हैं और आप उनकी ओर देख नहीं रहे हैं; वे आपको जगाने आये हैं और आप सोये पड़े हैं। प्रार्थनारूपी जलके छींटे देकर अपनी आत्माको जगायें और जो पाने योग्य है, उसे प्राप्त करें।

( ६ )

## महान् संकल्प

प्रार्थना एक महान् इच्छा, आशा और विश्वास है। जैसी हमारी इच्छा होगी, वैसी ही हमारी आशा होगी और वैसा ही विश्वास होगा। यदि हमारी इच्छा कुछ है और विश्वास कुछ और तो वह इच्छा वास्तविक नहीं है। हार्दिक इच्छाका जन्म एक सजीव विश्वासके रूपमें होता है। स्थूल पदार्थ या कार्यके रूपमें परिणत होनेवाला सजीव विश्वास एक प्रार्थना है।

हमारा जीवन हमारे विश्वासोंका बना हुआ है। यह समस्त संसार हमारे मनका ही खेल है। जगत् वास्तवमें मनोमय है। 'जैसा जिसका मन, वैसा उसका जीवन; जैसे जिसके विचार, वैसा उसका संसार।' हमारा प्रत्येक विश्वास, प्रत्येक आशा और प्रत्येक इच्छा, हमारा प्रत्येक भाव और विचार हमारे समस्त जीवनपर स्थायी प्रभाव डालता है। यही कारण है कि हमें अपने विचारोंके प्रति सजग रहना चाहिये। एक विषका घूँट हमारी उतनी हानि नहीं करेगा, जितनी हानि एक अशुभ विचार कर सकता है। प्रत्येक शुभ विचार हमारे लिये अमृतका एक बिन्दु बन जाता है।

हमारे विचार ही हमारी वाणीके रूपमें प्रकट होते हैं और हमारे विचार हमारे ही कार्य बन जाते हैं। हमारे विचार हमारे आस-पास आनेवाले हर व्यक्तिको स्पर्श करते और उसको प्रभावित करते हैं; वे दूर-दूरतक जाते हैं और संसारका कोई भी कोना उनके असरसे अछूता नहीं रह जाता। इस विश्वको बनाने या बिगाड़नेमें हर मनुष्यका और उसके हर विचारका हाथ है। हमारा हर विचार एक

विष या अमृतकी बूँद है, जो इस विश्वरूपी समुद्रको जहरीला या जीवनदायक बनाती है।

यदि हम इस विश्वको या अपने जीवनको अच्छा या सुखमय बनाना चाहते हैं तो हमें सदैव शुभ इच्छाएँ करनी चाहिये और अपनी शुभ इच्छाओंको आशाओं और विश्वासोंमें परिणत करना चाहिये। व्यक्तिगत एवं सामूहिक सुख-शान्तिके लिये हमें सदैव आशावादी दृष्टिकोण रखना चाहिये और अपनी मङ्गलमयी इच्छाओंको अपने मनमें स्थिर रखना चाहिये। सजीव विश्वास बनकर वे वास्तविकतामें परिणत हो जायँगी। प्रत्येक शुभ इच्छा पूर्ण होती है, यदि उसे बीचमें ही छोड़ न दिया जाय। जो मनुष्य जिस वस्तुकी इच्छा करता है और जिसका समस्त जीवन उस इच्छाके अनुकूल होता है, वह अपने अभीष्ट अर्थको अवश्य ही प्राप्त कर लेता है, बशर्ते कि वह बीचसे विरत न हो जाय। इच्छाको जाग्रत्, आशाको चैतन्य और विश्वासको अचल रखनेसे समयपर सफलता अवश्य प्राप्त होती है; दैव भी उस सफलतामें बाधक नहीं बन सकता।

हमें अपना दृष्टिकोण व्यापक रखना चाहिये और लक्ष्य ऊँचा बनाना चाहिये। ऐसा काम करना चाहिये, जिससे बहुत लोगोंका भला हो। हमारी कामना जितनी ही महान् होगी, उतने ही अधिक लोग हमारे सहयोगी बन जायँगे; पशु-पक्षी भी हमारी सहायता करेंगे और समस्त प्रकृति हमें सफल बनानेके लिये प्रयत्नशील हो जायगी। ऐसे अज्ञात स्रोतोंसे हमें सहायता मिलेगी, जिनकी हमने स्वप्नमें भी कल्पना नहीं की थी। प्रत्येक शुभ विचार एक ईश्वरीय संदेश है, जो सफल होनेके लिये ही इस जगत्में भेजा जाता है। प्रत्येक महान् इच्छा एक ईश्वरीय प्रेरणा है, जिसका हमें स्वागत करना चाहिये और ईश्वरीय महिमाके इस पृथ्वीपर अवतरणमें सहायक बनना चाहिये। प्रत्येक लोक-कल्याणकारी विचारके रूपमें ईश्वरीय शक्ति प्रकट होती है। उस शुभ विचारको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिये यदि प्रभु आपको माध्यम बनाना चाहते हैं तो आप हिचक छोड़िये और आगे बढ़कर प्रभुकी इस कृपाको शिरोधार्य कीजिये।

हमें केवल भगवान्‌का ही सेवक बनना चाहिये और केवल उन्हींका काम करना चाहिये। इस विश्वका प्रत्येक काम हमारी भावना और कार्यशैलीके अनुसार या तो भगवान्‌का काम बन जाता है या शैतानका। हम एक ही समयमें भगवान् और शैतान दोनोंके सेवक नहीं बन सकते। हम या तो भगवान्‌की ही सेवा कर सकते हैं या शैतानकी ही। अपने प्रत्येक कार्य, शब्द और विचारमें हमें भगवान्‌का ही सेवक बनना चाहिये। यह हम अपने मनमें शुभ इच्छाएँ रखकर ही कर सकते हैं। अपने लिये भी और दूसरोंके लिये भी हमें हर समय शुभ इच्छाएँ रखनी चाहिये और प्रभुसे यही प्रार्थना करनी चाहिये कि हमारी इच्छाएँ हर समय शुभ हों। हे प्रभो! शुभ इच्छाके रूपमें आप हमें अपनी प्रेरणा प्रदान कीजिये, शुभ आशाके रूपमें आप हमें अपनी स्फूर्ति प्रदान कीजिये, शुभ विश्वासके रूपमें आप हमें अपना आशीर्वाद प्रदान कीजिये। हे प्रभो! सबकी इच्छाएँ मङ्गलमयी हों; हर व्यक्तिकी प्रत्येक इच्छा सदैव कल्याणकी ओर जानेवाली और ले जानेवाली हो। शुभ विचार ही हमारा नेता है, शुभ संकल्प ही हमें सत्य, प्रकाश और जीवनकी ओर ले जाता है। हे शुभसंकल्प! हमें मार्ग दिखा और प्रभुकी ओर ले चल।

( ७ )

## आरोग्य और चिकित्सा

हमारा मन और शरीर इस प्रकार एक-दूसरेके आश्रित हैं कि मानसिक प्रसन्नतासे हमें शारीरिक आरोग्य प्राप्त होता है और यदि हम प्रसन्नताका अभिनय करते हैं तो वह अभिनय हमारी उदासी और निराशाको दूर करके हमें प्रफुल्लित कर देता है, बशर्ते कि हमारे अभिनयमें सचाई हो, हम ईमानदारीसे प्रसन्नताका आह्वान करना चाहते हों। जैसी हम मुख-मुद्रा धारण करते हैं, वैसा ही भाव हमारे मनमें पैदा हो जाता है। ऐसा प्रदर्शन बड़ा कठिन है कि हमारे मनमें भाव तो कुछ और हो और हम उसके विपरीत भाव अपनी मुख-मुद्रासे प्रदर्शित करें। इस प्रकारका धोखा सबको नहीं दिया जा सकता, रोगीको तो बिल्कुल नहीं दिया जा सकता। प्रत्येक रोगीकी भाव-ग्रहणकी शक्ति बढ़ जाती है। उसकी ग्यारहवीं इन्द्रिय अर्थात् मानसिक शक्तियाँ बड़ी तीव्र हो जाती हैं और आपके बिना कहे ही वह अपने रोगविषयक आपके भावोंको, आपकी आशाओं और निराशाओंको पढ़ लेता है।

रोगीके आसपास प्रसन्नता या शान्तिका वातावरण रखना बड़ा जरूरी होता है। परिजनों और परिचारकोंकी दुश्चिन्ताएँ और आशङ्काएँ रोगीके लिये घातक सिद्ध होती हैं। इसके विपरीत शुभ कामनाएँ उसके लिये अमृत तुल्य सिद्ध होती हैं। यदि उसका रोग असाध्य है, तो भी जबतक उसका जीवन है, कम-से-कम तबतक तो उसे प्रसन्नता, शान्ति और आशाका

वातावरण प्रदान करना चाहिये । ये आशाएँ झूठी नहीं, बल्कि शुभ-कामनारूपी सच्ची आशाएँ होनी चाहिये और प्रसन्नताके वातावरणका यह अर्थ नहीं कि आप रोगीके पास ढोल या शहनाई बजायें । जिनसे उसे प्रसन्नता हो, ऐसे बहुत-से काम किये जा सकते हैं—जैसे उसे कोई उच्च कोटिकी सरस कहानी पढ़कर सुनायी जा सकती है, या कोई मधुर गीत सुनाया जा सकता है, या कोई मनोरञ्जक चुटकुला सुनाया जा सकता है । इस प्रकार एक ओर जहाँ रोगीका मनोरञ्जन होगा, वहीं साथ-साथ परिचारकोंके मनसे भी दुश्चिन्त निकल जायगी । निराशाको भुला देना ही उसको नष्ट करना है । रोगी जितनी देरके लिये अपने कष्टको भूल जाता है, उतनी देरके लिये वह अपने कष्टसे मुक्त हो जाता है । यदि वह अधिक समयतक अपने कष्टको भूला रहे तो रोगसे यह मुक्ति अधिक स्थायी हो जाती है ।

परिचारकों और परिजनोंका रोगीके प्रति सबसे बड़ा धर्म यही है कि वे ईश्वरमें और उसके मङ्गलमय विधानमें विश्वास रखें । जो कुछ होना चाहिये, वही होगा । प्रत्येक घटना मङ्गलमयी होती है । चिकित्सा मङ्गलमयी है और रोग भी मङ्गलमय है । सबके प्रति, अपने प्रति और अपने रोगके प्रति मैत्रीभाव रखना रोगके इलाजका अचूक उपाय है । रोगीके मनमें इस सहस्रमुखी विराट् मैत्री-भावनाको उत्पन्न करना उसके परिचारकों और परिजनोंका कर्तव्य है । रोगसे स्वयं रोगीको तथा उसके मित्रोंको भी ऐसे बहुत-से लाभ होते हैं, जिनसे रोग न होनेपर वे लोग वञ्चित रह जाते हैं । प्रत्येक विपत्तिमें उसीके समान शक्तिवाली एक सम्पत्तिका बीज रहता है । प्रत्येक रोगमें आरोग्यका और मृत्युमें जीवनका बीज रहता है । एक दिशामें दुर्बल होनेसे हम किसी-न-किसी अन्य दिशामें पहलेसे अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं । रोग हमारे पापोंको धो डालता है और हमें नया जीवन प्रदान करता है । जिस व्यक्ति या घटनाको हम अपना शत्रु समझते हैं, वह शत्रु सिद्ध होती है; जिसे हम मित्रके रूपमें देखते हैं, वह मित्र बन जाता है । हमारे मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोणसे रोग और कष्ट भी हमारे मित्र यानी आरोग्य और सुख बन जाते हैं ।

रोगीके प्रति हमारी शुभकामनाओंसे चिकित्सा करनेवाली शक्तियाँ उसकी ओर आकर्षित होती हैं । उसके इलाजके लिये जब रोगीके परिजन और परिचारक रचनात्मक दृष्टिकोणसे विचार-विमर्श करते हैं, तब पथ्य-परहेज और सेवा-टहलके विषयमें तथा चिकित्साके विषयमें भी कई ऐसी चीजें निकल आती हैं, जो जादूका असर करती हैं । चिकित्सक भी जो जितना अधिक परोपकारी होता है, वह उतना ही सफल सिद्ध होता है । जब वह स्वार्थको अलग करके रोगीकी भलाईके बारेमें सोचता है, तब उसकी बुद्धि अधिक तत्परतासे कार्य करती है और चिकित्साके क्षेत्रमें चमत्कार हो जाते हैं । श्रेष्ठ चिकित्सकोंकी दवा तो असर करती ही है, उनका परोपकारी व्यक्तित्व दवासे भी अधिक प्रभावशाली होता है । इसीलिये उनको पीयूषपाणि कहा जाता है । उनका हाथ लगते ही रोगी ठीक होने लगता है ।

आजकल देखा जाता है कि रोग जब असाध्य हो जाता है, तभी पूजा-पाठ किया अथवा करवाया जाता है । यहाँतक यह धारणा लोगोंके मनमें बैठ गयी है कि छोटी-मोटी बीमारीमें पूजा-पाठके आयोजनको कई लोग अशुभ समझ बैठते हैं । यह एक गलत और भ्रामक तरीका है । छोटी-से-छोटी बीमारीमें भी हमें प्रभुको याद करना चाहिये । यदि वे हमारी छोटी बीमारी नहीं दूर कर सकते तो कोई बड़ी बीमारी दूर करना या मोक्ष प्रदान करना तो और भी कठिन काम है । यह सब हमारे विश्वासपर ही निर्भर करता है । यदि हम छोटी-छोटी चीजोंके लिये उनपर निर्भर नहीं कर सकते तो बड़ी चीजोंके लिये भगवान्‌को पुकारना अपने आपको धोखा देना है । जो सर्वशक्तिमान् हमें स्वर्ग या मोक्ष प्रदान कर सकते हैं, वे हमारे पेटके या सिरके दर्दको भी तुरंत दूर कर सकते हैं । जो आदमी एक मन वजन उठा सकता है, वह एक तोला तो और भी आसानीसे उठा सकता है । जो भगवान् हमें अनन्त जीवन प्रदान कर सकते हैं, वे हमारी कायाको नीरोग तो अवश्य ही कर सकते हैं ।

भगवान्‌पर अपने विश्वासको बढ़ानेका क्रम यही है कि पहले हम अपनी छोटी-से-छोटी बीमारीको दूर करनेके लिये उनसे प्रार्थना करें, और अपने छोटे-से-छोटे लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये उनकी कृपाका वरदान माँगें । जैसे-जैसे हम सफलता प्राप्त करते जायँगे, हमारा विश्वास स्वयमेव बढ़ता जायगा और अन्तमें हमें यह विश्वास हो जायगा कि जो कुछ हमें माँगनेसे प्राप्त हुआ है, वह हमारे न माँगनेपर भी हमें अवश्य प्राप्त होता । जबतक हमें इस प्रकारका विश्वास न हो जाय, तबतक हमारा जीवन प्रार्थनामय होना चाहिये । भगवान् बिना माँगे भी देते हैं, इस प्रकारका स्मरण ही उत्तम प्रार्थना है ।

# हमारे वितरण

( लेखक—श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी )

भारतकी अनोखी परम्पराओंकी झाँकी करा देना ही इस लेखका लक्ष्य है। भारतीय मानव-जीवन कितना वैराग्यमय, साधनासम्पन्न और व्यवस्थासे पूर्ण था—इसपर दृष्टिपात करना आवश्यक है। क्या राजा और क्या साधारण जन, सबका क्रम आत्मविरति रहा है। इसमेंसे प्रत्येक ही दूसरोंकी सेवा किये बिना अपनेको अन्न ग्रहण करनेतकका अधिकारी नहीं मानता था। निर्लेपताका भाव यह था कि माता सबेरे बालकको स्तनपान कराकर खेत, खलिहान, आँगनमें पड़ा छोड़ देती थी प्रकृतिकी गोदमें और आप तन्मय होकर घर या खेतमें काम करने लग जाती थी। धूल, धूप, आतप, वर्षा, खुली हवा और फल, फूल तथा पक्षियोंके बीच पलकर बालक बड़ा होता था और आत्माकी नैसर्गिकता लिये भला-भोला नागरिक बनता था।

कहनेकी बात तो यह थी कि वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विज थे और शूद्र नीचे वर्णके; पर लोक-सेवक तो प्रत्येक ही वर्ग था। ब्राह्मणकी अपनी आवश्यकताएँ सबसे कम थीं और वह संतोषी था। विद्या और ज्ञान-दान ही उसका धर्म था। लोकाचरणको यह वर्ग दिशा देता था, मानव-मनकी उलझनोंको सुलझाता था और आनन्द, मङ्गल और ऐक्यकी व्यवस्था करता था। क्षत्रिय या राजपुत्रवर्गमेंसे जहाँ एक ओर उसका काम हुकूमत करना था, वहाँ दूसरी ओर धन-जनकी सुरक्षा उसका धर्म थी। बल-विक्रम, शक्ति-शौर्य, उदारता और मानवोचित व्यवहार तथा शस्त्र-संचालन-नैपुण्य उसके सहज गुण थे। वैश्य खेती करता, पशु-पालन करता और व्यापार-व्यवस्था करता था। उसका धर्म था चारों वर्णोंकी उदरपूर्ति और धर्माचरणसंयुक्त लेन-देन। शूद्र-वर्ग तो था ही सबका सेवक; पर सेवा भी एक धर्माचरण था और उसकी भी अपनी एक गति-विधि थी।

हमारे भीतर अकारण किसीके विनाशकी भावना नहीं थी, उत्पादन और निर्माणके सहज भाव थे। लोकरक्षण और जगकल्याण हमारे सहज गुण थे। जंगल बनते थे, बाग लगाये जाते थे, सड़कोंके किनारे वृक्षारोपण होता था और खेतमें लगे वृक्ष भी काटे नहीं जाते थे। मुख्य-मुख्य वृक्ष जो दीर्घजीवी एवं छाया-प्रदानमें समर्थ होते थे और जिनमें तैलांश अधिक होता था, उनको देवताओंकी श्रेणीमें रखकर जल दिया जाता था। सरिताओंके किनारे घाट और ऊपर पुल बनाये जाते थे, उनको गहरा रखनेकी व्यवस्था चलती रहती थी और तटोंको पुनीत रखनेके विचारसे जगह-जगह आश्रम, क्षेत्र, तीर्थ और उद्यान प्रस्तुत किये जाते थे। जलाशयों और सरोवरोंका निर्माण होता था। पर्वतोंपर अमराइयाँ और जलस्रोत खोजे जाते थे और देवालय बनाये जाते थे, सड़कें बनती थीं। गिरि-आश्रमोंकी स्थापना होती थी। यहींतक नहीं, वातावरण और भावनाके परिष्कारकी क्रियाएँ भी चलती रहती थीं। कहीं सुमधुर गायन हो रहा है, कहीं वेदोच्चार और कहीं भजन-कीर्तन तथा रात्रिजागरण। अनेकानेक हवनोंद्वारा निर्मित सात्त्विक मेघ सुधाधारा बरसाते थे। मधुर भाषण और प्रेमाचरणका बोलबाला था। सत्य और सद्व्यवहार जीवनका क्रम था।

हम मानव एक प्रकारसे जड और चेतनके संरक्षक और परिपालक थे। आखेट और मृगया होते थे शस्त्र चलानेके अभ्यासके लिये, मनोरंजनके लिये और हिंस्रक जन्तुओंपर मानवकी विजय घोषित करनेके लिये। वैसे राजाओंके

यहाँ बड़े-बड़े लखपेड़े बाग तैयार होते थे; उद्यान, वाटिकाएँ और अमराइयाँ बनती थीं; लाखों-करोड़ों गौएँ दानके लिये रक्षित रहती थीं और गाय, बैल, हाथी, घोड़े, ऊँट, खच्चर, भैंसे, कुत्ते, मेंढ़े इत्यादि पाले जाते थे। चिड़ियाघरमें बनमानुस, ऊदबिलाव, गैंड़े, सर्प, हिरन, बंदर, मछली, तोता, मैना, बटेर, काकातुआ, जलमुर्ग, बाज, बुलबुल, शेर, चीते, भालू, भेड़िये सब रहते थे। कुछ जीव आहाररूपमें, कुछ विनोदकी सामग्रीके रूपमें और कुछ सामान ढोनेमें काम आते थे। बाज और कुत्ते प्रायः आखेटके काममें आते थे। इस रूपसे बहुसंख्यक पशु-पक्षियोंका पालन राजा करता था। प्रजामें भी कबूतर, तीतर, बटेर, लालमुनी, तोता, मैना, चकोर, सारस, मुर्गी, बत्तख, कुत्ते, बिल्ली, खरगोश, चूहे, मछली, गधा, घोड़ा, बकरी, खच्चर, गाय, बैल, भैंस आदि पाले जाते थे। कहीं चिड़ियोंको और जानवरोंको जल पिलानेकी व्यवस्था थी, कहीं चींटियोंको आटा और चीनी डाली जाती थी और कहीं मछलियोंको रामनामकी गोलियाँ चुगायी जाती थीं। कहीं गायको लोई और गोग्रास खिलाया जाता था, कौओंके लिये कौर डाला जाता था और बची जूठन कुत्तोंको खिलायी जाती थी। इस प्रकारसे अनेकानेक पशु-पक्षियोंका पालन नित्यप्रति सहज ही होता रहता था।

राजाके यहाँ सदाव्रत बँटता था, यज्ञ और भोज होते थे, अभ्यागतों, अतिथियोंकी सेवा होती थी, गरीबोंको धन, अन्न-वस्त्र दिये जाते थे और विशेष अवसरोंपर विशेष दान ( तुलादान इत्यादि ) दिये जाते थे। राजकोषसे नित्य ही कुछ धन संस्थाओंपर, स्नातकोंपर, पुजारियोंपर तथा कन्याओंके विवाहादिपर व्यय होता था। देशके विविध निर्माणकार्य भी चलते रहते थे। जाड़ोंमें वस्त्र वितरित होते थे, अकालके समय अन्न बाँटा जाता था और जनताके लोगोंको गुजारेके लिये भूमि दी जाती थी। राजा अकेले कभी भोजन नहीं करता था। गुणियोंको बहुसंख्यक धन चला जाता था। जनताको उद्योग-धंधे दिलानेके लिये नहरों, सड़कों, कुओं, तालाबों, इमारतों, घाटों, पुलों इत्यादिका निरन्तर निर्माण होता रहता था। वाणिज्य-व्यवसाय और यातायातके साधन उपलब्ध थे और नव-नव उपनिवेश बसाये और सजाये जाते थे। जनगणनाका कार्य सुचारुरूपसे चलता था और इसकी पूरी व्यवस्था थी कि कहाँ, किसको किस संख्यामें बसाया जाय। भूमिके किसी एक भागपर अत्यधिक भार नहीं डाला जाता था। वैसे राजधानियों और व्यावसायिक केन्द्रोंकी छटा अनूठी थी।

जनताको कामसे लगाये रखनेका एक और साधन था। वह था तीर्थयात्रा तथा देशाटन। मेले, पर्व, उत्सव तो होते ही थे, स्थानविशेष और तीर्थविशेषके दर्शनका बड़ा महत्त्व माना जाता था। उन स्थान-विशेषोंकी व्यवस्थाका कार्य, सड़कोंकी मरम्मत, धर्म-शालाओंका प्रबन्ध और सुरक्षा और साधन-सामग्री आदि जुटानेके कार्य पर्याप्त थे। राजाके निजी चाकर, फौजके सिपाही तथा मनसबदार और दरबारी तो बहुत थे ही; एक नीति यह भी थी कि पहलवानोंका, गायकोंका, पण्डितोंका, कवियोंका, कलाकारोंका पालन भी होता रहता था और बहुधा दूर देशोंके मल्ल तथा कलाकार आये-गये बने ही रहते थे।

देख लेना चाहिये कि एक ठौरपर अधिक भार न हो जाय, इसके लिये जनताके सहयोगके क्या प्रकार थे। मान्यता यह थी कि संतानकी आवश्यकता केवल तीन कर्मोंके लिये है—वंश चलानेके लिये, पितरोंको जल देनेके लिये और लोकरक्षणके लिये ( मातृभूमिकी सेवाके लिये )। इस कारण सद्गृहस्थ अधिक संतति-का लोभी न था। आश्रम-व्यवस्थाके अनुसार ४, ५ वर्षकी आयुतक ही बालक माता-पिताके संरक्षणमें रहता था। तदनन्तर उसे गुरुकुल भेज दिया जाता था, जहाँ उसकी शिक्षा-दीक्षाका भार आचार्योंपर जा पड़ता था। घरपर छोटा बालक कम वस्त्र पहनता, कम भोजन

करता और स्वल्प आवश्यकताएँ रखता था। इसके माता-पिता भी अक्सर व्रत-उपवास करते थे और लोक-सेवामें निरत रहते थे। आश्रममें भी बालककी आवश्यकताएँ सूक्ष्म थीं। वह लुंगी और कौपीन धारण करता था, चटाई-पर सोता था, कमण्डलुसे पानी पीता था, एक समय भिक्षाटन करता और स्वाध्याय तथा आचार्य-सेवामें लगा रहता था। परिपक्व और पूर्ण युवा होकर २५ वर्षकी आयुमें जब वह गुरुकुलसे घर आता था, तब महात्माओं-का तेज उसके मुखपर विराजता था और शस्त्र-शास्त्रमें पारंगत होकर वह लोक-रक्षकके रूपमें निकलता था। तब उसका विवाह होता था। इस रूपसे बाल-विवाह न होते थे। प्रत्येक कुटुम्बसे कम-से-कम एक आदमी-को राजा अथवा देशकी सेवाके लिये जाना पड़ता था ( फौजमें भर्ती होना पड़ता था)। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' समझकर उसे इस लोक और परलोकका ध्यान रहता था और वह माता-पिता और बन्धुओंकी निष्कपट सेवा करता था, अभ्यागत-सत्कार करता था, दान देता था तथा धर्मयात्राओंके लिये धन-संचय करता था। यह सब करते-करते ही उसका गृहस्थाश्रम समाप्त हो जाता था और स्त्रीको साथ ले वह पर्यटनको निकल पड़ता था।

वैसे उस युगमें धनका इतना अधिक प्रयोग न था, जितना आज है। आदान-प्रदानकी व्यवस्था दूसरी ही थी। यात्राएँ बहुत होती थीं, पर बहुधा पैदल या घोड़ोंपर ही होती थीं और दलोंमें होती थीं। हाथी, घोड़ों, ऊँटों, खच्चरों या बैलगाड़ियोंपर भी होती थीं, पर मार्ग थोड़े थे और बैलगाड़ियाँ भी कम थीं। एक वस्तुके बदले दूसरी वस्तु प्राप्त हो जाती थी और नाजके बदले तो प्रायः सारी ही वस्तुएँ उपलब्ध होती थीं। गङ्गा-स्नानके पर्व होते थे, जहाँ महीनों मेले पड़े रहते थे। ज्ञान-चर्चा और प्रवचन होते थे, नियमित जीवन चलता था और वृत्ति सात्त्विकी हो जाती थी। फिर देशके एक भागसे दूसरेकी (उत्तरसे दक्षिणकी) यात्राएँ होती रहती थीं और आपसमें व्यापार-व्यवसाय होते थे। दूरी इन यात्राओंमें कभी बाधा उपस्थित नहीं कर पाती थी। मनुष्य पुरुषार्थी और घुमक्कड़ था, जिज्ञासु था। इस रूपसे उसे देश और समाजका ज्ञान होता था और उधर संस्कृतिकी एकता स्थापित रहती थी। एक ओर जहाँ सह-संसर्ग होता था, वहाँ दूसरी ओर संगृहीत वस्तुओंका वितरण, धर्म-प्रथाओंका ज्ञान और लोकाचार-का आदान-प्रदान तथा ऐक्य, उत्साह और आनन्दका वर्धन होता था। मनुष्यमें स्वावलम्बन और साहसके भाव उदित होते थे। वह अपना ज्ञान देकर दूसरोंके अनुभव लेता था। इन यात्राओंमें लोक-नृत्य और लोक-गीतोंकी परम्परा भी चलती रहती थी।

पुरुषमें सहज वैराग्यकी भावना समाहित थी। लोकरक्षणार्थ उसके लिये कुछ भी अदेय नहीं था। यदि वह समर्थ होता और धनपति होता तो बहुधा क्षेत्र-विशेषमें धर्मशाला, विद्यामन्दिर, अनाथाश्रम, मठ, घाट, देवालय, पुस्तकालय आदि बनवाता था। राजा भी कभी-कभी महात्माओंकी सिद्धवाणी सार्थक करनेके लिये धनकोषका खुलकर वितरण किया करता था। रोगियोंकी परिचर्या और जड़ी-बूटियोंका सफल प्रयोग तो एक सामान्य पथिक भी जानता था। व्यापारियोंके यहाँ धर्मखाते और धर्मगोले खुले हुए थे और व्यापारका क्रम था—'भूल-चूक लेना-देना।' यह भूल-चूक परलोकतक सङ्ग जाती थी। इस प्रकारसे जन, मन और धन, धर्म सबका आदान-प्रदान चलता रहता था। वर्षमें एक बार तो प्रायः सभी अपना धन-धाम छोड़ देते थे और गङ्गावास या तीर्थाटन करते थे और आत्मतोषका कल्प प्राप्त करते थे। इस रूपसे अपने अनुभव, ज्ञान और अर्जनका वितरण हो जाता था और एक बार फिर शुद्धबुद्धि मानव अपनी दैनिक चर्यामें लग जाता था।

श्रीहरिः

# पंजाब सरकारद्वारा स्वीकृत गीताप्रेसकी १६१ पुस्तकें

पंजाब राज्यकी सरकारने अपने राज्यके पुस्तकालयोंमें संग्रहार्थ तथा पारितोषिक-वितरणके लिये गीताप्रेसकी निम्नलिखित पुस्तकें स्वीकृत की हैं। वहाँके शिक्षा-विभागके निर्देशक महोदयने अपने शिमला कार्यालयसे पत्र सं० ४-३। ४-५८-B-४५८६ दिनाङ्क २२ जनवरी १९५८ के द्वारा राज्य भरके विद्यालयों और कालेजोंके क्षेत्रीय निरीक्षकों और प्रधानाचार्योंको यह सूचित किया है कि गीताप्रेसके प्रकाशन चरित्र-निर्मापक और सदाचार सिखानेवाले हैं तथा साथ ही अत्यधिक सस्ते हैं। इसलिये वे स्कूल-कालेजोंके पुस्तकालयोंके लिये और पारितोषिक-वितरणके लिये स्वीकार किये जाते हैं।

## पुस्तकोंका विवरण

| क्रम | पुस्तक | मूल्य |
|---|---|---|
| १ | गीता-शांकर भाष्य | २।॥) |
| २ | गीता-रामानुजभाष्य | २॥) |
| ३ | गीता-मूल हिन्दी अनुवादसहित | १) |
| ४ | श्रीविष्णुपुराण | ४) |
| ५ | वेदान्त-दर्शन | २) |
| ६ | मानस-रहस्य | १।) |
| ७ | मानस-शङ्का-समाधान | ॥) |
| ८ | वैराग्य-संदीपनी | =) |
| ९ | हनुमान-बाहुक | -)॥ |
| १० | सूर-रामचरितावली | ॥≡) |
| ११ | श्रीकृष्ण-बाल-माधुरी | ॥।=) |
| १२ | प्रेमयोग | १।) |
| १३ | श्रीतुकारामचरित्र | १।=) |
| १४ | ईश्वरकी सत्ता और महत्ता | १।) |
| १५ | मानसिक दक्षता सजिल्द | १।) |
| १६ | शरणागति-रहस्य | ॥।=) |
| १७ | पातञ्जलयोगदर्शन | ॥।) |
| १८ | लघुसिद्धान्तकौमुदी | ॥।) |
| १९ | महत्त्वपूर्ण शिक्षा | १) |
| २० | परम साधन | १) |
| २१ | तत्त्व-चिन्तामणि (भाग १) | ॥=) |
| २२ | " " (भाग २) | ॥।=) |
| २३ | " " (भाग ३) | ॥≡) |
| २४ | " " (भाग ४) | ॥।-) |
| २५ | " " (भाग ५) | ॥।-) |
| २६ | " " (भाग ६) | १) |
| २७ | तत्त्व-चिन्तामणि (भाग ७) | १=) |
| २८ | श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली " (भाग १) | ॥।=) |
| २९ | " (भाग २) | १=) |
| ३० | " (भाग ३) | १) |
| ३१ | " (भाग ४) | ॥=) |
| ३२ | " (भाग ५) | ॥।) |
| ३३ | स्वर्णपथ | ॥।) |
| ३४ | सत्सङ्गके बिखरे मोती | ॥।) |
| ३५ | एक महात्माका प्रसाद | ॥।) |
| ३६ | संत-वाणी | ॥=) |
| ३७ | विदुर-नीति | ॥-) |
| ३८ | सुखी जीवन | ॥) |
| ३९ | सत्सङ्ग-सुधा | ॥) |
| ४० | सती द्रौपदी | ॥) |
| ४१ | भगवच्चर्चा (भाग १) | ॥) |
| ४२ | " (भाग २) | ॥) |
| ४३ | " (भाग ३) | ॥।) |
| ४४ | " (भाग ४) | ॥।-) |
| ४५ | " (भाग ५) | ॥।) |
| ४६ | " (भाग ६) | ॥।) |
| ४७ | लोक-परलोकका सुधार " (भाग १) | ।=) |
| ४८ | " (भाग २) | ।=) |
| ४९ | " (भाग ३) | ॥) |
| ५० | " (भाग ४) | ॥) |
| ५१ | " (भाग ५) | ॥) |
| ५२ | श्रीभीष्मपितामह | ।≡) |
| ५३ | जीवनका कर्तव्य | ।≡) |
| ५४ | उपनिषदोंके चौदह रत्न | ।=) |
| ५५ | नारी-शिक्षा | ।=) |
| ५६ | तत्त्व-विचार | ।=) |
| ५७ | संगीत-रामचरितमानस | ।=) |
| ५८ | विवेक-चूडामणि | ।-) |
| ५९ | भवरोगकी रामबाण दवा | ।-) |
| ६० | प्रेमदर्शन | ।-) |
| ६१ | भक्त-भारती | ।≡) |
| ६२ | भक्त नरसिंह मेहता | ।=) |
| ६३ | भक्त नारी | ।-) |
| ६४ | भक्त-पञ्चरत्न | ।-) |
| ६५ | आदर्श भक्त | ।-) |
| ६६ | भक्त-सप्तरत्न | ।-) |
| ६७ | भक्त-चन्द्रिका | ।-) |
| ६८ | भक्त-कुसुम | ।-) |
| ६९ | प्रेमी भक्त | ।-) |
| ७० | प्राचीन भक्त | ॥) |
| ७१ | भक्त-सरोज | ।=) |
| ७२ | भक्त-सुमन | ।=) |
| ७३ | भक्त-सौरभ | ।-) |
| ७४ | भक्त-सुधाकर | ॥) |
| ७५ | भक्त महिलारत्न | ।=) |
| ७६ | भक्त-दिवाकर | ।=) |

| क्रम | पुस्तक | मूल्य |
|---|---|---|
| ७७ | भक्त-रत्नाकर ... | \|≡) |
| ७८ | भक्तराज हनुमान् ... | \|-) |
| ७९ | सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र | \|-) |
| ८० | प्रेमी-भक्त उद्धव ... | ≡) |
| ८१ | महात्मा विदुर ... | =)॥ |
| ८२ | भक्तराज ध्रुव ... | ≡) |
| ८३ | परमार्थ-पत्रावली ( भाग १ ) | \|) |
| ८४ | ” ” ( भाग २ ) | \|) |
| ८५ | ” ” ( भाग ३ ) | ॥) |
| ८६ | ” ” ( भाग ४ ) | ॥) |
| ८७ | कल्याण-कुञ्ज ( भाग १ ) | \|) |
| ८८ | ” ” ( भाग २ ) | \|-) |
| ८९ | ” ” ( भाग ३ ) | \|=) |
| ९० | श्रीकृष्णरेखा-चित्रावलि- ” ” ( भाग १ ) | \|=) |
| ९१ | ” ” ( भाग २ ) | \|=) |
| ९२ | बाल-चित्रमय बुद्धलीला | \|-) |
| ९३ | बाल-चित्रमय चैतन्यलीला | \|-) |
| ९४ | बाल-चित्र-रामायण ( भाग १ ) | \|) |
| ९५ | ” ” ( भाग २ ) | \|) |
| ९६ | भगवान्पर विश्वास ... | \|) |
| ९७ | मानस-व्याकरण ... | \|) |
| ९८ | गीताप्रेस-लीला-चित्र-मन्दिर-दोहावली ... | \|) |
| ९९-२०० | इन संख्याओंपर भूलसे ९७ और ९८ संख्याओंकी पुस्तकोंका ही दुबारा नामोल्लेख हुआ है | |
| १०१ | शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ | \|) |
| १०२ | सती सुकला ... | \|) |
| १०३ | सत्सङ्ग-माला ... | \|) |
| १०४ | प्रार्थना ... | ≡) |
| १०५ | मानव-धर्म ... | ≡) |
| १०६ | आदर्श नारी सुशीला ... | ≡) |
| १०७ | आदर्श भ्रातृ-प्रेम ... | ≡) |
| १ . | दैनिक कल्याण-सूत्र ... | ≡) |

| क्रम | पुस्तक | मूल्य |
|---|---|---|
| १०९ | गीता-निबन्धावली ... | =)॥ |
| ११० | मनन-माला ... | =)॥ |
| १११ | नवधा भक्ति ... | =) |
| ११२ | बाल-शिक्षा ... | =) |
| ११३ | श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति | =) |
| ११४ | गीता-भवन-दोहा-संग्रह ... | =) |
| ११५ | भजन-संग्रह ( भाग १ ) ... | =) |
| ११६ | ,, ,, ( भाग २ ) ... | =) |
| ११७ | ,, ,, ( भाग ३ ) ... | =) |
| ११८ | ,, ,, ( भाग ४ ) ... | =) |
| ११९ | ,, ,, ( भाग ५ ) ... | =) |
| १२० | बालकोंकी बोलचाल ... | =)॥ |
| १२१ | बालकोंको सीख ... | =) |
| १२२ | बालकके आचरण ... | =) |
| १२३ | बाल-प्रश्नोत्तरी ... | -)॥ |
| १२४ | नारी-धर्म ... | -)॥ |
| १२५ | गोपी-प्रेम ... | -)॥ |
| १२६ | मनुस्मृति—दूसरा अध्याय | -)॥ |
| १२७ | ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप | -)॥ |
| १२८ | मनको वश करनेके कुछ उपाय | -)। |
| १२९ | श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श-शिक्षा ... | -)। |
| १३० | ईश्वर ... | -)। |
| १३१ | मूल-रामायण ... | -)। |
| १३२ | सिनेमा—मनोरञ्जन या विनाशका साधन ... | -) |
| १३३ | ब्रह्मचर्य ... | -) |
| १३४ | दीन-दुखियोंके प्रति कर्तव्य | -) |
| १३५ | बाल-अमृत-वचन ... | -) |
| १३६ | रामाज्ञा-प्रश्न ... | \|=) |
| १३७ | मनुष्य-जीवनकी सफलता | १) |
| १३८ | वल्लभाचार्य ( नाटक ) ... | ॥) |
| १३९ | जानकी-मङ्गल ... | ≡) |
| १४० | श्रीपार्वती-मङ्गल ... | =) |

| क्रम | पुस्तक | मूल्य |
|---|---|---|
| १४१ | बालककी दिनचर्या ... | =) |
| १४२ | वर्तमान शिक्षा ... | -)॥ |
| १४३ | बालकके गुण ... | ≡)॥ |
| १४४ | स्वास्थ्य-सम्मान और सुख | -)॥ |
| १४५ | स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी ... | -)॥ |
| १४६ | आनन्दमय जीवन ... | ॥\|-) |
| १४७ | अपरोक्षानुभूति ... | =)॥ |
| १४८ | साधन-पथ ... | =)॥ |
| १४९ | मासिक महाभारत ( मूल श्लोक तथा भाषानुवाद-सहित ) | २०) प्रति वर्ष |

**B. English Publications**

| No. | Title | Price |
|---|---|---|
| 150. | The Philosophy of Love ... | 0 |
| 151. | Gems of Truth ( First Series ) | 0-12-0 |
| 152. | Gems of Truth ( Second Series ) | 0-12-0 |
| 153. | What is Dharma? | 0-0-9 |
| 154. | Bhagavadgītā ( with English Translation ) ... | 0-4-0 |
| 155. | Gopis' Love for Sri Krishna ... | 0-4-0 |
| 156. | Way to God-Realization ... | 0-4-0 |
| 157. | Divine Name and Its Practice ... | 0-3-0 |
| 158. | Wavelets of Bliss | 0-2-0 |
| 159. | The Immanence of God ... | 0-2-0 |
| 160. | What is God ? | 0-2-0 |
| 161. | The Divine Message ... | 0-0-9 |

दिल्ली-दूकानका पता—२६०९, नयी सड़क, दिल्ली।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर )